

# जिनधर्म-विवेचन

(पूर्वाद्ध)

लेखक :

ब्र. यशपाल जैन, एम.ए., जयपुर

सम्पादक :

डॉ. राकेश जैन शास्त्री, नागपुर

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-४, बापूनगर, जयपुर ह ३०२०१५

फोन : ०१४१-२७०७४५८, २७०५५८१ • फैक्स : २७०४१२७

E-mail : ptstjaipur@yahoo.com

## प्रकाशकीय

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर का नाम जैन समाज में अल्पमूल्य में सत्साहित्य उपलब्ध कराने के लिए विख्यात है। संस्था का प्रयास नित-नूतन साहित्य जन-जन तक पहुँचाने का रहा है। प्रस्तुत प्रकाशन 'जिनधर्म विवेचन' ब्र. यशपाल जैन की नवीनतम कृति है, आशा है यह कृति सदा की भाँति समाज में समुचित समादर प्राप्त करेगी।

यह कृति का पूर्वार्द्ध है, इसमें मुख्यरूप से द्रव्य-गुण-पर्याय का ही विवेचन किया गया है। विषय को सुगम बनाने के उद्देश्य से प्रश्नोत्तर शैली का प्रयोग किया गया है, आशा है पाठक आगम, युक्तियों व उदाहरणों के माध्यम से विषयवस्तु को सरलता से समझ सकेंगे।

ब्र. यशपालजी ने इस कृति के निर्माण में अथक परिश्रम किया है। कृति के उत्तरार्द्ध में वे सात तत्त्व, अहिंसा तथा हिंसा के भेद आदि समाहित करने हेतु कटिबद्ध हैं। वे सतत् साहित्य साधना में तल्लीन रहते हुए आत्मकल्याण के मार्ग पर अग्रसर हों - ऐसी भावना है।

डॉ. राकेश जैन शास्त्री, नागपुर ने मनोयोग पूर्वक सम्पादन कार्य कर कृति को व्यवस्थित रूप प्रदान किया है, इसके लिए वे बधाई के पात्र हैं। मुद्रण व्यवस्था में सदा की भाँति प्रकाशन विभाग के प्रभारी श्री अखिल बंसल का श्रम श्लाघनीय है। श्री कैलाश शर्मा ने कम्पोजिंग कार्य मनोयोगपूर्वक किया है, इसके लिए उन्हें धन्यवाद।

आप सभी जिनधर्म विवेचन का हार्द समझकर द्रव्य गुण पर्याय का सही स्वरूप समझें, इसी भावना के साथ ह

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल  
महामंत्री

## अपनी बात

जिनधर्म-विवेचन पढ़ने के पहले मैं पाठकों से कुछ कहना चाहता हूँ - इस कृति में विषय के प्रतिपादन में मैंने अनेक स्थान पर शास्त्रों के आधार दिये हैं। शास्त्रों का आधार देते समय जिस मूल प्राकृत-संस्कृत भाषा में शास्त्र लिखे हैं, उनके हिन्दी अनुवाद का उपयोग ही किया गया है। यदि कहीं-कहीं पर प्राकृत-संस्कृत का उपयोग किया भी गया है तो उसका हिन्दी अनुवाद भी दिया है।

अभिप्राय यह रहा है कि पाठकों में प्राकृत-संस्कृत भाषा को जानने वाले तो बहुत कम लोग हैं; अतः हिन्दी अनुवाद तो देना आवश्यक ही है।

यद्यपि, इस कृति में विश्व एवं द्रव्य-गुण-पर्याय के साथ-साथ सप्त तत्त्व, अहिंसा, हिंसा के भेद, देव-शास्त्र-गुरु - इन विषयों का विवेचन भी देना चाहिए था; तथापि ये विषय पूर्णरूप से अभी तैयार नहीं हैं; इसलिए जिनधर्म-विवेचन (पूर्वार्द्ध) के नाम से यह कृति पाठकों के कर-कमलों में देने का प्रयास किया है। शेष विषय, यथाशीघ्र उत्तरार्द्ध के रूप में प्रकाशित करने का मानस है।

मैं डॉ. राकेश जैन शास्त्री, नागपुर का विशेष आभार व्यक्त करना चाहता हूँ; क्योंकि उनसे यदि यह कृति सम्पादित नहीं होती तो इतनी व्यवस्थित नहीं बनती। मेरी मातृभाषा तो कन्नड़ है और पढ़ाई, मराठी भाषा में हुई है। इस कारण हिन्दी भाषा में कुछ कमियाँ रहना स्वाभाविक है। उन कमियों को दूर करने का कार्य डॉ. राकेश जैन ने किया है। मैं भविष्य में भी उनसे सहयोग की अपेक्षा रखता हूँ।

जिनधर्म-विवेचन पढ़ने के बाद पाठक अपना अभिमत मुझे लिखेंगे तो मुझे उनके अभिप्राय को जानकर, जिनवाणी-सेवा का यह कार्य अधिक शुद्ध/निर्मल बनाने में अवश्य मदद मिलेगी; अतः उनसे उनके अभिमत लिखने का सानुरोध निवेदन है।

- ब्र. यशपाल जैन, एम.ए.

## सम्पादकीय

इस पुस्तक का सम्पादन कार्य मेरे हाथ में कैसे आया? उसका संक्षिप्त विवरण देने का यहाँ मन है - मैं अपने निजी कार्य से जयपुर गया था, उस समय आदरणीय बाल ब्र. यशपालजी ने उनकी इस रचना 'जिनधर्म-विवेचन' के कुछ पृष्ठ मुझे पढ़ने को दिए। मैंने अपनी ओर से उसमें कुछ संशोधन सुझाए, वे संशोधन उन्हें बहुत पसन्द आए; अतः उन्होंने मुझे सम्पूर्ण पुस्तक का संशोधन करने के लिए कहा। यद्यपि मैंने अपनी व्यस्तता दर्शाई, फिर भी उन्होंने बहुत आग्रह किया तो मैंने इस रचना का सम्पादन, प्रूफ-संशोधन, वाक्य-विन्यास, विषय आदि समग्र दृष्टियों से अवलोकन किया है।

इस रचना में 'द्रव्य-गुण-पर्याय' से सम्बन्धित विषय प्रमुखता से लिया गया है - यह मेरा भी प्रिय विषय है; क्योंकि मैंने इसी विषय पर अपना शोधकार्य किया है।

इसप्रकार 'द्रव्य-गुण-पर्याय' का विषय अत्यन्त गहन एवं विस्तृत है, फिर भी विद्वान् लेखक ने इसे अत्यन्त सरल एवं सर्वग्राह्य बनाने का प्रयत्न किया है और वे अपने प्रयास में सफल भी हुए हैं। प्रत्येक विषय को प्रस्तुत करने में आगम-प्रमाण, युक्तियाँ, उदाहरण एवं जानने से लाभ आदि बिन्दुओं का समुचित उपयोग किया गया है।

विषय-प्रस्तुतिकरण की दृष्टि से निम्न बिन्दु दृष्टव्य हैं -

१. महत्त्वपूर्ण वाक्यों/वाक्यांशों को अधिक काला किया गया है।
२. विषय को और अधिक ग्राह्य बनाने की दृष्टि से प्रश्नोत्तर शैली का प्रयोग किया गया है, जिससे विषय प्रतिपादन में सरलता हुई है।
३. अनेक स्थलों पर मूल ग्रन्थों को पढ़ने की प्रेरणा भी दी गई है।
४. पुस्तक को अध्यायों में विभाजित करने के साथ-साथ अनेक स्थानों पर शीर्षक एवं उपशीर्षक भी लगाये गये हैं।

५. मूल ग्रन्थों के सन्दर्भों की शुद्धता बनाये रखने का विशेष प्रयास किया गया है।

इसप्रकार इस पुस्तक का सम्पादन-संशोधन करते हुए मेरा भी विषय के सम्बन्ध में विशेष अध्ययन हुआ है और ज्ञान में निर्मलता वृद्धिगत हुई है। मुझे इस कार्य को करने का अवसर प्रदान करके आदरणीय यशपाल अण्णाजी ने मेरा परम उपकार ही किया है।

यह विषय, हमारे अपने कल्याण में अत्यन्त उपयोगी है, अतः पाठकों से इसका गहराई से अध्ययन करने का आग्रहपूर्वक निवेदन है।

आदरणीय अण्णाजी ने मुझसे कहा कि मैं यहाँ अपने शोध ग्रन्थ का कुछ परिचय लिखूँ, ताकि पाठकों को उसकी कुछ जानकारी हो सके, अतः यहाँ उसका संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करने का प्रयास करता हूँ ह

“यह शोध-प्रबन्ध, संस्कृत भाषा में श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली के अंतर्गत माननीय डॉ. वीरसागर जैन दिल्ली के कुशल निर्देशन में प्रस्तुत किया गया है।

इस शोध-प्रबन्ध का मुख्य शीर्षक ‘जैनदर्शन में अर्थ के द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप’ है; इसमें सात अध्याय हैं ह

१. प्रथम अध्याय में ‘प्रस्तावना’ के रूप में जैनदर्शन के संक्षिप्त इतिहास के साथ-साथ विशेषरूप से द्रव्य-गुण-पर्याय को जानने का प्रयोजन बताया गया है।

२. द्वितीय अध्याय में ‘अर्थ का अनुशीलन’ किया गया है; क्योंकि प्रवचनसार की गाथा ८७ में अर्थ के तीन प्रकार बताये गये हैं ह द्रव्य, गुण और पर्याय। इसमें अर्थ की अनेकान्तात्मकता, सत्ता का निरूपण, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के आलोक में लोक/विश्व का स्वरूप, इसके अन्तर्गत विश्व, पदार्थ, वस्तु, अस्तिकाय, तत्त्व, भाव आदि का पृथक्-पृथक् विवेचन भी किया गया है।

३. तृतीय अध्याय में ‘द्रव्य का अनुशीलन’ के अन्तर्गत द्रव्य क्या है ? द्रव्य का स्वरूप, सत्ता, गुण, पर्याय, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य आदि की अपेक्षा क्या है ? इसीप्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय की परस्पर भिन्नता-अभिन्नता, षड् द्रव्य, द्रव्य की शुद्धता-अशुद्धता का स्वरूप इत्यादि विषयों का अध्ययन किया गया है।

४. चतुर्थ अध्याय में ‘गुण का अनुशीलन’ करते हुए, गुणों के पर्यायवाची, गुणों की द्रव्याश्रितता, गुणों की निर्गुणता, गुणों की नित्यानित्यात्मकता, गुण शब्द के अन्यत्र प्रयोग; जैसे - गुणस्थान, पंच परमेष्ठियों के क्रमशः ४६, ८, ३६, २५, २८ आदि विशेष गुण, गुण की पदार्थरूपता, गुणार्थिकनय, गुणों की परिणमनशीलता, गुणों के अनेक प्रकार से भेद-प्रभेद, सैंतालीस शक्तियाँ इत्यादि विषयों को संगृहीत किया गया है।

५. पंचम अध्याय में ‘पर्याय की व्याख्या’ की गई है; उसमें विशेषरूप से पर्याय की व्युत्पत्ति स्वरूप एवं लक्षण, पर्याय के - द्रव्यपर्याय, गुणपर्याय, स्वभावपर्याय, विभावपर्याय, अर्थपर्याय, व्यंजनपर्याय, शुद्धपर्याय, अशुद्धपर्याय, कारणशुद्धपर्याय, कार्यशुद्धपर्याय, क्रमभावीपर्याय, सहभावीपर्याय, स्वपर्याय, परपर्याय, ऊर्ध्वपर्याय, तिर्यक्पर्याय, अनादिपर्याय, सादिपर्याय, सदुत्पाद, असदुत्पाद आदि भेद-प्रभेदों, पर्याय का काल, चार अभाव, क्रमबद्धपर्याय, पंच समवाय आदि विषयों का अनुशीलन किया गया है।

६. षष्ठम अध्याय में विशेषरूप से ‘द्रव्य-गुण-पर्याय की परस्पर आश्रयता’ को उद्घाटित किया गया है। एक ही द्रव्य में अन्यत्व-अनन्यत्व, द्रव्य की तात्कालिक व त्रैकालिक अनन्यता, नयदृष्टि-प्रमाणदृष्टि से द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप, द्रव्य-गुण-पर्याय की पृथक्-पृथक् नित्यानित्यता, द्रव्य-अस्तिकाय-पदार्थ-तत्त्व की द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावमयता,

सामान्यरहित विशेष और विशेषरहित सामान्य का निषेध, अन्वय-व्यतिरेक, शुद्धाशुद्ध द्रव्य-गुण-पर्याय आदि विषयों का विस्तृत विवेचन किया गया है।

७. सप्तम अध्याय में 'विभिन्न दर्शनों के सन्दर्भ में द्रव्य-गुण-पर्याय का विवेचन' किया गया है; इसमें वेद-ब्राह्मण-आरण्यक; उपनिषद्-गीता; चार्वाक-बौद्ध-जैन, वैशेषिक-नैयायिक-सांख्य-योग-मीमांसा-वेदान्त आदि भारतीय दर्शनों तथा माइलेशियन-पाइथागोरस-हेरेक्लाइट्स-सुकरात-प्लेटो-अरस्तू-जीनो-प्रोक्लस-ऐरिजोना-ब्रूनो-केम्पानोला-ब्रेकन आदि पाश्चात्य दर्शनों के सन्दर्भ में द्रव्य-गुण-पर्याय की मीमांसा की गई है।

८. अष्टम अध्याय में 'उपसंहार' करते हुए द्रव्य-गुण-पर्याय के परिज्ञान की महती आवश्यकता, प्रस्तुत शोध ग्रन्थ की मौलिकता आदि विषयों के साथ-साथ अनेक परिशिष्टों का समावेश किया गया है; जिनमें पण्डित दीपचन्द्रजी शाह कासलीवाल की सवैया टीका तथा परमात्मपुराण के संस्कृत अनुवाद एवं लेखक के 'पञ्जयमूढा हि परसमया' ह्व यह लेख प्रकाशित किये गये हैं।''

यह शोध प्रबन्ध भी शीघ्र ही प्रकाशित किया जाएगा; जिससे पाठकों को द्रव्य-गुण-पर्याय से सम्बन्धित जिज्ञासाओं को उपशान्त करने में अवश्य मदद मिलेगी ह्व ऐसा मेरा विश्वास है।

- डॉ. राकेश जैन शास्त्री, नागपुर

## जिनधर्म-विवेचन

### भूमिका

१. पूर्ण वीतरागी, सर्वज्ञ व हितोपदेशी को जिनवरवृषभ या जिनेन्द्र कहते हैं। २. सभी मुनिराज एवं गणधर परमेष्ठी जिनवर हैं अथवा छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलनेवाले एवं श्रेणी में आरोहण करनेवाले भावलिंगी मुनिराज को जिनवर कहते हैं। ३. जो वीतरागी, सर्वज्ञ व हितोपदेशी जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा का अनुसरण करते हैं, उन्हें जिन कहते हैं अथवा सभी सम्यग्दृष्टियों को जिन कहते हैं तथा जो अपनी इन्द्रियों को जीत लेते हैं, उन्हें जिन कहते हैं। ४. जिनेन्द्र भगवान ने जिस धर्म का कथन किया है, उसे जिनधर्म कहते हैं। ५. जो जिनवरवृषभ, जिनवर, जिन एवं जिनधर्म के अनुयायी हैं, उन्हें जैन कहते हैं।

श्री अरहन्त भगवान को भी जिनेन्द्रदेव कहते हैं। सभी तीर्थंकर परमात्मा तो जिनेन्द्र हैं ही। अनादिकाल से आज तक अनन्त जीव जिनेन्द्र हो चुके हैं। भविष्यकाल में भी अनन्त जीव जिनेन्द्र होंगे तथा वर्तमानकाल में भी लाखों जीव विदेहक्षेत्र में जिनेन्द्र अवस्था में विद्यमान हैं।

यदि कोई सामान्य मुनिराज भी पूर्ण वीतरागी होकर सर्वज्ञ होते हैं, उनको भी जिनेन्द्र कहते हैं। ध्यान रहे - दिव्यध्वनि से उपदेश देना, जिनेन्द्र बनने के लिए अनिवार्य नहीं हैं; क्योंकि मूक केवली भी जिनेन्द्र ही होते हैं।

अनादिकाल से जिनेन्द्र भगवन्तों ने दिव्यध्वनि के माध्यम से जिनधर्म का उपदेश दिया है अर्थात् अनादिकाल से अनन्त जिनेन्द्र भगवन्तों ने अनन्त बार अनन्त जीवों के आत्मकल्याण के लिए जिस अनुपम धर्म का उपदेश दिया है, उसे ही जिनधर्म या जैनधर्म कहते हैं।

आज से करीब ७०-८० वर्ष पहले गुरुनां गुरु स्वनामधन्य गुरुवर्य पण्डित श्री गोपालदासजी बरैया ने अनेक आचार्यों द्वारा रचित अनेक शास्त्रों के आधार से सामान्य लोगों को जिनधर्म का प्राथमिक ज्ञान कराने की भावना से हिन्दी भाषा में जैन सिद्धान्त प्रवेशिका नामक रचना लिखी है। यह रचना ६७१ प्रश्नोत्तरों में निबद्ध है।

परवर्ती चिन्तकों को बैरयाजी की यह कृति भी विस्तृत जान पड़ी तो उन्होंने इसे ही आधार बनाकर लघु जैन सिद्धान्त प्रवेशिका की रचना की है; जो विशेषरूप से समाज में प्रचलित है।

इसी लघु जैन सिद्धान्त प्रवेशिका के आधार से वयोवृद्ध विद्वान् श्री रामजीभाई माणिकचन्दजी दोशी ने श्री जैन सिद्धान्त प्रश्नोत्तरमाला के तीन भागों की रचना की है। इन्हीं तीन भागों को आधार बनाकर श्री जैन सिद्धान्त प्रवेश रत्नमाला के सात भाग एवं लघु जैन सिद्धान्त प्रवेश रत्नमाला की रचनाएँ पण्डित श्री कैलाशचन्दजी बुलन्दशहर वालों ने की है।

उपर्युक्त सभी कृतियों के आधार से ही मैंने भी जिनधर्म-प्रवेशिका की रचना की है। यद्यपि करीब १० वर्ष पहले मैंने अपनी ही कृति जिनधर्म-प्रवेशिका के आधार पर जिनधर्म-विवेचन लिखा था, तथापि उससे मैं उतना सन्तुष्ट नहीं हो पाया था, इस कारण उसका प्रकाशन नहीं कराया; अतः मैंने पुनः नये प्रयास के साथ जिनधर्म-विवेचन लिख दिया है।

अपने जीवन में मैंने भी अपनी पात्रता के अनुसार जिज्ञासु पात्र जीवों को धर्म समझाने का प्रयास किया है। उस प्रयास के आधार से मैं यह कहना चाहता हूँ कि जिनधर्म-विवेचन का भी समाज अवश्य लाभ लेगा; क्योंकि जिनधर्म-प्रवेशिका का हिन्दी, मराठी और कन्नड़ मातृभाषिक लोगों ने लाभ लिया है और ले रहे हैं। लाभ लेने वालों की संख्या कितनी है, इस सम्बन्ध में मैं अधिक सोचता नहीं; क्योंकि साक्षात् तीर्थकर की दिव्यध्वनि जब समवसरण के माध्यम से खिरती थी, तब भी मर्यादित जीव ही सत्यार्थ तत्त्व का लाभ लेते थे। विषय-कषाय के पोषण से रहित वीतरागी तत्त्व का लाभ लेनेवाले लोग नियम से हमेशा मर्यादित ही रहेंगे - ऐसा ही वस्तुस्वरूप है; अतः धर्मलाभ लेनेवालों की संख्या में कमी से मैं कभी भी प्रभावित नहीं होता।

इस कृति में जो कुछ तात्त्विक विषय बताया गया है, वह सब सर्वज्ञ-कथित एवं आचार्यों द्वारा रचित जिनवाणी का ही है। मैंने तो मात्र अपने उपयोग/ज्ञान को निर्मल बनाने की भावना से ही यह विषय लिखने का विकल्प किया है। इस कृति में जो विषय सत्य है, वह तो जिनवाणी का है और जो कमियाँ हैं, वह सब मेरी हैं - ऐसा मेरा नम्र निवेदन है। अस्तु!

॥ वीतरागाय नमः ॥

## जिनधर्म-विवेचन

### मंगलाचरण

देव-शास्त्र-गुरु को नमूँ; नमूँ दिगम्बर धर्म ।  
 वीतरागता हो प्रगट; सहज मिले शिव शर्म ॥  
 पंच परम पद विश्व में; आगम के अनुसार ।  
 उनकी श्रद्धा भक्ति से; होउं भवोदधि पार ॥  
 शासन वीर जिनेन्द्र का; वर्त रहा है आज ।  
 उनके चरणों में नमन; सहज सफल सब काज ॥  
 घाति कर्म सब नाश कर; अनन्त चतुष्टय पाय ।  
 सप्त धातु से रहित तन; औदारिक कहलाय ॥  
 दोष अठारह हैं नहीं; शुद्ध ज्ञान-भण्डार ।  
 हैं अरहन्त परमेष्ठी; ध्यान धरो गुण-धार ॥  
 अष्ट कर्म का नाश कर; लिए अष्ट गुण-धार ।  
 ज्ञाता-दृष्टा लोक के; निराकार अविकार ॥  
 लोक-शिखर पर वास है; ज्ञानरूप घन पिण्ड ।  
 सिद्ध सदा ही ध्याइये; शिव सुख मिले अखण्ड ॥  
 कुन्दकुन्द को नित नमन; दिया 'समय' का सार ।  
 भूल सकेगा कौन कब; उनका यह उपकार ?  
 है यह 'जिनधर्म-विवेचन'; जिन शासन का द्वार ।  
 कथन करे जिनधर्म का; आगम के अनुसार ॥

## विश्व-विवेचन

जिनधर्म प्रवेशिका में सर्वप्रथम १. प्रश्न है – विश्व किसे कहते हैं?  
उत्तर – (जीवादि) छह द्रव्यों के समूह को विश्व कहते हैं।

२. प्रश्न – लोक और अलोक दोनों को ही विश्व कहना अथवा मात्र लोक को, स्पष्ट कीजिए?

उत्तर – लोक और अलोक दोनों ही विश्व के अन्तर्गत आते हैं, मात्र लोक नहीं। मात्र लोक को ही विश्व माना जाए तो हमने आकाश के एक अल्पभाग को ही विश्व मान लिया और बहुभाग आकाशद्रव्य को विश्व में लिया ही नहीं, यह प्रसंग उपस्थित हो जाएगा, जो वस्तुस्वरूप के अनुकूल नहीं है।

विश्व की परिभाषा में छह द्रव्यों के समूह को विश्व कहा गया है; अतः पूर्ण आकाश को विश्व में समाहित करना योग्य है। इस प्रकार लोक और अलोक दोनों ही विश्व में सम्मिलित होते हैं।

हमें ऐसा नहीं समझना चाहिए कि अलोकाकाश में भी छह द्रव्य होते हैं; क्योंकि वहाँ तो मात्र आकाशद्रव्य ही है। यद्यपि शास्त्रों में लोक या लोकाकाश की मुख्यता से ही अधिकतर वर्णन मिलता है; अतः छह द्रव्यों के समूह को लोक/विश्व कहा जाता है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने बारसाणुवेक्खा नामक कृति में इस विषय को गाथा क्रमांक ३८ में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा है –

जीवादिपयद्वाणं, समवाओ सो णिरुच्चए लोगो।

तिविहो हवेई लोगो, अहमज्झिमउडुभेण ॥

जीव आदि पदार्थों के समवाय को लोक कहते हैं। लोक तीन प्रकार का है – अधोलोक, मध्यलोक व ऊर्ध्वलोक।

कोई पूछ सकता है – हमें जिनधर्म समझना है। यहाँ विश्व को समझने से क्या प्रयोजन है? हमें व्यर्थ का काम नहीं करना है।

भाईसाहब! यह काम व्यर्थ का नहीं है। जब तक हमें “इस विश्व का कोई कर्ता-हर्ता नहीं है, यह विश्व स्वयमेव है, अनादि से है और अनन्त कालपर्यन्त स्वयमेव बना रहेगा” – ऐसा पक्का विश्वास या भरोसा नहीं होता है; तब तक जीव को काल्पनिक सर्व सामर्थ्यवान् भगवान का भय बना रहता है; इसलिए इस व्यर्थ के भय को भगाने के लिए विश्व किसी का बनाया हुआ नहीं है – ऐसी श्रद्धा अवश्य होना चाहिए।

जीवादि छह द्रव्यों के समूह को विश्व कहते हैं – ऐसा निर्णय होने से हम निर्भय रहते हैं। जो जीव, जीवन में निर्भय नहीं होगा; वह धर्म करने के लिए अथवा धर्म जानने के लिए भी समर्थ नहीं हो सकता। धर्म समझने के लिए सबसे पहले निर्भय होना अत्यन्त आवश्यक है। भयभीत रहनेवाला व्यक्ति धर्म कैसे करेगा? धर्म कैसे जानेगा? इसलिए विश्व का यथार्थ ज्ञान करना आवश्यक है।

इस विश्व को जगत, लोक, दुनिया और ब्रह्माण्ड आदि नामों से भी जाना जाता है। इस विश्व में जाति अपेक्षा छह द्रव्य हैं; उनके नाम – जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल है।

इसप्रकार विश्व को जानना व्यर्थ का काम नहीं है, बल्कि अनिवार्य काम है।

३. प्रश्न – आप तो शास्त्र के आधार पर कह रहे हो। क्या शास्त्र के आधार से वस्तु-व्यवस्था मानना अज्ञान और अन्धविश्वास नहीं है?

उत्तर – वास्तविक बात तो यह है कि जिनेन्द्र भगवान सर्वज्ञ एवं वीतरागी हैं, उन्होंने जो वस्तु का स्वरूप देखा-जाना है, वही अपनी दिव्यध्वनि में कहा है, वही युक्ति एवं तर्क से भी सिद्ध होता है तथा जो विषय, तर्क तथा युक्ति से सिद्ध होता है, उसे ही शास्त्रों में कहा जाता है। आपको लगता है कि शास्त्र पर श्रद्धा करना भी अज्ञान और अन्धविश्वास है; पर यह बात सत्य नहीं है। हम भी यही कहते हैं कि सत्य को जानने के लिए परीक्षाप्रधानी होना आवश्यक है।

जिनेन्द्रकथित शास्त्र की परिभाषा ही यह है कि “जो कथन, तर्क

एवं युक्ति से सिद्ध तथा पूर्वापर-अविरुद्ध होता है, उसे ही शास्त्र/आगम कहते हैं; इसलिए जिनेन्द्रकथित शास्त्रों पर श्रद्धान करना अन्धविश्वास अथवा अज्ञान नहीं है।”

पुनः यह प्रश्न भी पूँछा जा सकता है कि जब सामान्य नेता (मनुष्य) भी अपने अनुयायियों में यदि किंचित् भी पक्षपात करता है तो उसकी महानता में कलंक लग जाता है। तो क्या जिनेन्द्रकथित शास्त्रों का ही श्रद्धान करने में क्या पक्षपात की गन्ध नहीं है?

उत्तर – देखो! जिनेन्द्रकथित वस्तुव्यवस्था में किसी भी प्रकार पक्षपात की गन्ध नहीं है; क्योंकि जिनेन्द्र भगवान लोक के कर्ता या नियन्ता नहीं है, उन्होंने अपने अनन्त केवलज्ञान में जैसा वस्तु का स्वरूप देखा है, वैसा ही तो बताया है। यदि हम उन्हें या किसी अन्य ईश्वर को जगत् का निर्माता मानें तो पक्षपात की गन्ध अवश्य आएगी।

देखो! विश्व में तो मनुष्यों की रचना में अनेक विविधताएँ/विपरीतताएँ प्रत्यक्ष अनुभव में आ रही हैं ह १. कुछ मनुष्य धनवान हैं तो कुछ धनहीन। २. कुछ जन्म से मरण पर्यंत निरोग रहते हैं तो कुछ जन्म से ही अनेक रोगों से पीड़ित रहते हैं। ३. कुछ भगवान के भक्त हैं तो कुछ भगवान के भक्तों और भगवान के भी विरोधी। ४. कोई सज्जनोत्तम हैं तो कोई सज्जनों का ही नाश करने को तत्पर।

अतः यदि समतास्वभावी भगवान यदि इस विश्व को बनानेवाले माने जाएँ तो उनकी यह पक्षपातपूर्ण रचना अत्यन्त अशोभनीय प्रतीत होती है।

इस सन्दर्भ में आपका यह उत्तर सम्भव है कि वे भगवान प्रत्येक मनुष्य को उनके अपने-अपने पूर्वोपार्जित पाप-पुण्य के अनुसार बाह्य में अनुकूलताएँ तथा प्रतिकूलताएँ देते हैं। लेकिन यदि मनुष्य के पाप-पुण्य के अनुसार ही भगवान फल देते हैं तो भगवान अपनी इच्छा के अनुसार फल देने में समर्थ नहीं है; ऐसा अर्थ प्राप्त होता है। इस कथन से तो भगवान के कर्तापने की बात ही समाप्त हो जाती है; हम भी यही कहना चाहते हैं।

४. प्रश्न – लेकिन आपके इसप्रकार के कथन से हमारा जिनमन्दिर जाना और जिनेन्द्र भगवान की भक्ति-पूजा आदि करना सब बन्द हो जाएगा। हमें मन्दिर जाना चाहिए अथवा नहीं, यह भी स्पष्ट कीजिए?

उत्तर – भाई साहब! हमारा आपका मन्दिर जाना सार्थक होवे तथा उसका यथार्थ प्रतिफल प्राप्त हो, इस भावना से ही यह सब कथन हो रहा है। भगवान के सच्चे स्वरूप का एवं कार्यों का सत्य निर्णय हो जाने पर उनकी भक्ति भी ज्ञानपूर्वक होती रहेगी। विश्व और भगवान के सम्बन्ध का यथार्थ निर्णय हो जाने पर जिनमन्दिर में जाने का भाव सच्चा और अच्छा ही होगा।

भगवान के पास भय से अथवा भोग्य पदार्थों की भीख के उद्देश्य से जाना अलग बात है और शास्त्राधार सहित तर्क और युक्तिपूर्वक उनके स्वरूप को सत्यार्थ जानकर सहज भक्ति से जाना अलग बात है। प्रथम पद्धति से मनुष्य को न तो निर्भयता प्राप्त होती है और न इच्छित भोग्य पदार्थों की प्राप्ति होती है। मिथ्या कल्पना करने से मात्र पापकर्म का ही बन्ध नियम से होता है।

द्वितीय पद्धति से मनुष्य नियम से निर्भय होता है। भय का निकल जाना ही स्वयं सुख है। निर्भय मनुष्य, निशंकता से सत्यासत्य का निर्णय करने में समर्थ होता है। ज्ञानसहित निर्भय परिणामों से पुण्यकर्म का सहज आस्रव-बन्ध होता रहता है तथा यथासमय पुण्यकर्म के उदय से सांसारिक भोग्यपदार्थ भी बिना माँगे ही मिलते रहते हैं; अतः परीक्षा-प्रधान पद्धति ही धर्म के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

५. प्रश्न – जीवादि छह द्रव्यों को क्या आप तर्क के आधार से भी सिद्ध कर सकते हो? यदि हाँ तो सबसे पहले जीवद्रव्य को सिद्ध कीजिए।

उत्तर – जगत् में अनेक प्रकार के कार्य देखने-जानने को मिलते हैं, आपने देखा होगा, उनमें समझनेरूप कार्य हमें जीवों में ही मिलता है। स्कूल-कॉलेज में तो समझने का कार्य विद्यार्थी करते ही हैं। अन्य स्थानों पर भी समझने तथा समझाने का कार्य चलता रहता है। घर में पुत्र, पिता



से व्यापार-धन्धे के विषय में जानता/समझता है। माँ, बेटी को रोटी बनाने की कला सिखाती है। रेलवे से यात्रा करते समय कुछ गलती हो जाए तो टी.सी. अथवा अन्य यात्री भी गलती करनेवाले को समझाते हैं और वह यात्री उनसे समझता है। पढ़ानेवाले शिक्षक अपने विद्यार्थियों से पूँछते हैं - समझ में आया? विद्यार्थी उत्तर देता है - हाँ गुरुजी! समझ में आया; अतः घर से लेकर बाजार तक सब स्थानों पर समझने का कार्य चलता रहता है। इसप्रकार 'समझना' यह कार्य हो गया।

कोई भी कार्य, कारण के बिना नहीं होता - यह नियम है। समझने रूप कार्य के पीछे तो ज्ञान कारण है ही, लेकिन समझाने रूप कार्य के पीछे भी ज्ञान ही कारण है। ज्ञान के बिना समझना और समझाना असम्भव है।

इसप्रकार ज्ञान अर्थात् जानकारी लेते-देते समय हम मनुष्यों को रात-दिन स्पष्टरूप से जानते हुए देखते हैं; अतः मनुष्य, ज्ञान करता है या जानता है - यह विषय स्पष्ट हुआ।

६. प्रश्न - क्या इस जगत में मात्र मनुष्य ही जानता है? गाय, बैल, हाथी, घोड़े, कीड़े, मकोड़े, चींटी मच्छर आदि प्राणी नहीं जानते हैं क्या?

उत्तर - अरे भाई! गाय, बैल, हाथी आदि प्राणी भी जानते हैं। यदि जानवर नहीं जानते होते तो वे अपने मालिक को पहिचानने का काम कैसे करते? चींटी भी जानती है, इस कारण तो वह मीठी चीजों के पास जाती है और मिर्च से दूर रहती है।

अरे! अन्य कीड़े-मकौड़ों की क्या बात करें? वनस्पति भी जानती है। जिधर धूप होती है, उधर पेड़ की टहनियाँ अधिक झुकती हैं; जिस दिशा में पानी हो अथवा गीलापन हो, उधर वृक्ष की जड़ें अधिक मात्रा में फैलती हैं; क्योंकि वृक्षों को उनसे पोषण मिलता है।

७. प्रश्न - इन उदाहरणों से आप क्या समझाना चाहते हैं?

उत्तर - जिसके पास ज्ञान है, वही जीवद्रव्य है - ऐसा हमें निर्णय होता है। इस तरह तर्क के आधार से जीव की सिद्धि होती है।

८. प्रश्न - पुद्गलद्रव्य की सिद्धि तर्क के आधार से कैसे होगी?

उत्तर - यद्यपि पाँच इन्द्रियों से ज्ञात होने योग्य भी एक द्रव्य है, उसे नाम क्या दिया जाए? यह विषय अलग है; तथापि यह विषय स्पष्ट समझ में आता है कि स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द - इनका ज्ञान हमें इन्द्रियों के माध्यम से होता है। इन्द्रियगम्य मात्र एक ही द्रव्य है, जिसे जिनवाणी में पुद्गल कहा जाता है। एक मात्र यही द्रव्य 'रूपी' है। 'रूपी' शब्द का अर्थ मात्र वर्णवाला नहीं, 'रूपी' का अर्थ है - जो स्पर्श, रस, गन्ध एवं वर्ण से सहित है, उसे 'रूपी' कहते हैं। इसीप्रकार पूरन-गलन की क्रिया जिसमें हो, उसे पुद्गल कहते हैं।

यह लक्षण सत्यरूप से प्रतीत होता है; क्योंकि स्पर्शादि गुणों से सहित और पूरन-गलन करनेवाला पुद्गल, सर्वत्र ही सबको अनुभव में आता है। जैसे, अत्यन्त मीठा एवं उचितरूप से पके हुए आम का उचित समय पर स्वाद लिया जाए तो मनुष्य आनन्दित होता है। यदि भूलवश योग्य समय आने पर आम को काम में नहीं लेंगे तो आम का सड़ जाना स्वाभाविक है। जिसतरह आम की बात कही, उसीतरह प्रत्येक फल की बात समझ लेना चाहिए। आम पहले तो पेड़ पर कैरी के रूप में दिखता है। धीरे-धीरे बड़ा होता है अर्थात् उसका पूरण होना चालू है और बाद में पूर्ण पक जाने के बाद जो प्रक्रिया होती है, उसे गलन कहते हैं।

इसप्रकार जो वस्तु अत्यन्त स्पष्टरूप से अनुभव में आती है, उसे न मानने की बात कैसे हो सकती है?

जिसतरह कोई व्यक्ति सोया हो तो उसे जगाना सरल है; क्योंकि दुनिया में सोते हुए मनुष्य को हमेशा ही जगाया जाता है; लेकिन जिसने जानबूझकर नींद का बहाना बनाया है, उसे जगाना कैसे सम्भव है? उसी तरह पुद्गल नामक वस्तु का ज्ञान हमें रात-दिन हो ही रहा है; इसलिए पुद्गलद्रव्य को मानना ही चाहिए।

९. प्रश्न - धर्मद्रव्य की सिद्धि कैसे होती है?

उत्तर - एक जगह से अन्य जगह पर जाने का अर्थात् स्थानान्तर का

कार्य दिनभर चलता ही रहता है। रेल, मोटर, साइकिल आदि द्वारा आदमी एक नगर से दूसरे नगर को जाता हुआ सबको प्रत्यक्ष देखने में आता है। विद्यार्थी सुबह १० बजे स्कूल जाते हैं और शाम को घर आते हैं। नौकरी करनेवाले रोज ही सुबह ऑफिस जाते हैं और शाम को घर आते हैं; यह सब सतत चलता ही रहता है। गतिरूप-गमनरूप-स्थानान्तरणरूप कार्य रात-दिन चलता ही रहता है तो इस कार्य के लिए निमित्त कारण होना अनिवार्य है। उस निमित्त कारणरूप द्रव्य को ही जिनदर्शन में धर्मद्रव्य नाम दिया है।

मोक्षमार्गस्वरूप धर्म अलग है और यह धर्मद्रव्य अलग है। मोक्षमार्ग तो सुखदाता, निराकुलस्वरूप एवं मोक्षदाता है और धर्मद्रव्य तो लोकव्यापक, अचेतन एवं अखण्ड एक द्रव्य है। जैनदर्शन को छोड़कर अन्य किसी भी दर्शन ने इस धर्मद्रव्य को स्वीकृत नहीं किया है।

१०. प्रश्न - अब अधर्मद्रव्य की सिद्धि कीजिए?

उत्तर - धर्मद्रव्य के कथन के प्रसंग में अनेक पदार्थ गमन करते हैं - यह विषय बताया गया है। अब हम यह भी सोचेंगे कि क्या गमन करने वाले सर्व पदार्थ सदैव गमन ही करते रहते हैं अथवा विशिष्ट मर्यादा पर्यन्त गमन करने के बाद रुक भी जाते हैं? गमन करने वाले पदार्थ रुक जाते हैं या थोड़े समय के लिए स्थिर हो जाते हैं - यह बात सर्वविदित है। इसका अर्थ यह हुआ कि स्थिर रहनेरूप भी एक कार्य इस दुनिया में है। रेल भी गमन करते हुए योग्य स्टेशन पर योग्य समय के लिए नियम से रुकती ही है।

कहीं न रुकनेवाली रेल अथवा बस में कौन और क्यों बैठेगा? तथा यदि रेल अथवा मोटर कहीं रुकेगी ही नहीं तो यह मनुष्य बैठेगा भी कैसे? और कहाँ? इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि गमन करनेवाला कहीं न कहीं रुकेगा अवश्य। भले ही हवाईजहाज ही क्यों न हो, उसका रुकना अनिवार्य है।

गमन करते हुए रुकने के विषय में हम अन्य पदार्थों का ही दृष्टान्त क्यों देखें? हम-आप रोज जिनमन्दिर जाते हैं तो गमन करके जाते हैं। भले वह हमारा गमन पैरों से हो, कार से हो या किसी भी साधन से हो।

जिनमन्दिर जाने के बाद पूजा-भक्ति के लिए मन्दिर में कुछ समय तक रुकते हैं। यह जो रुकनेरूप या स्थिर रहनेरूप कार्य होता है, उसे कोई न कोई कारण तो अवश्य होना ही चाहिए, क्योंकि बाह्य कारण या निमित्त कारण के बिना भी कोई कार्य नहीं होता; इसलिए स्थिर रहनेरूप जो कार्य है, उसमें जो कारण हो, उस द्रव्य का नाम ही अधर्मद्रव्य है।

हिंसादि पाँच पाप, सप्त व्यसन या मिथ्यात्व जैसे पापों या महापापों को भी अधर्म कहते हैं; लेकिन यहाँ उस अधर्म की बात नहीं है। इसीप्रकार बाह्य व्रतादि कार्यों को व्यवहार धर्म तथा शुद्धोपयोगरूप आत्मानुभवन आदि कार्यों को निश्चय धर्म कहते हैं, उनकी भी यहाँ बात नहीं है।

यहाँ तो धर्मद्रव्य या अधर्मद्रव्य नामक एक, अखण्ड, लोकव्यापी एवं जड़ द्रव्य है, उसे हमें अपने ज्ञान में स्वीकारना चाहिए।

धर्मद्रव्य तथा अधर्मद्रव्य - इन दो द्रव्यों का वस्तु-व्यवस्था में स्वीकार मात्र जैनदर्शन ने ही किया है, अन्य किसी भी दर्शन ने इन द्रव्यों को माना ही नहीं; इस विशेषता को भी हमें जानना चाहिए।

११. प्रश्न - क्या आकाशद्रव्य की सिद्धि भी तर्क के आधार से हो सकती है? उसे भी हम जानना चाहते हैं।

उत्तर - जैनदर्शन को छोड़कर अन्य अनेक दर्शनों ने भी यद्यपि आकाशद्रव्य को माना है; तथापि जैनदर्शन का कहना कुछ अलग ही है।

यहाँ तो तर्क के आधार से आकाशद्रव्य को सिद्ध करने का प्रयास किया जा रहा है। हम अपनी आँखों से आकार में छोटे-बड़े आकारवाले अनेक पदार्थों को देखते हैं। यदि पदार्थों के आकार छोटे-बड़े हो सकते हैं तो सर्वोत्कृष्ट आकार भी किसी न किसी द्रव्य का होना ही चाहिए। इस तर्क के आधार से भी आकाशद्रव्य ही सबसे बड़े आकारवाला सिद्ध होता है। आकाशद्रव्य, सभी द्रव्यों को अवगाहन देनेवाला माना गया है। अब, यहाँ 'अवगाहन' देने का मतलब समझाते हैं -

अनन्त जीवद्रव्य, अनन्तानन्त पुद्गलद्रव्य, धर्म और अधर्मद्रव्य एक-

एक - इन सब द्रव्यों को रहने के लिए और अपना-अपना कार्य करने के लिए कोई न कोई स्थान होना आवश्यक है।

यदि कोई स्थान ही नहीं होगा तो ये द्रव्य कहाँ रहकर अपना कार्य करेंगे? कहाँ गमन और कहाँ स्थितिरूप कार्य करेंगे?

इसप्रकार इन द्रव्यों को स्थान देना भी एक स्वतन्त्र कार्य हुआ। इस कार्य को करने के लिए द्रव्यों के आकारों के अनुरूप कोई अति विशाल एक द्रव्य होना ही चाहिए; जो इन सब द्रव्यों को स्थान देने में समर्थ हो। इस स्थान-दान के कार्य को करनेवाले द्रव्य को ही आकाशद्रव्य कहते हैं।

लोक जीवन में जल, अनेक पदार्थों को स्थान/अवकाश अर्थात् जगह देता हुआ देखने में आता है। पानी में आप धीरे-धीरे नमक डालते जाओ। पानी का आकार तो जितना है, उतना ही रहेगा; लेकिन बहुत सारा नमक पानी में समा जाएगा। फिर उसी पानी में धीरे-धीरे शक्कर डालते जाओ तो शक्कर भी उसमें घुल जाएगी; लेकिन पानी का आकार उतने का उतना ही रहेगा।

इसीप्रकार एक कटोरी में लबालब पानी भरो। फिर उस कटोरी के पानी में धीरे-धीरे कटोरी भरकर ही राख डालते जाओ, राख उस पानी में समा जाएगी। तदनन्तर उसी कटोरी में एक कटोरी भरकर अनेक सुई को आप धीरे-धीरे उसमें भरते/डालते जाओ तो उसमें उतनी सुइयों को भी स्थान मिलेगा।

यहाँ कटोरी ने पानी को जगह दी। पानी ने राख को जगह दी। राख ने सुइयों को जगह दी। लेकिन कटोरी को आकाश ने जगह दी है। कटोरी तो बहुत छोटी है, आकाश ने तो बड़े-बड़े पर्वतादि को भी जगह दी है।

यहाँ एक विषय सहज समझ में आता है, आ सकता है कि सबको जगह देनेवाला कोई ना कोई द्रव्य अवश्य होना ही चाहिए, उसी सबसे बड़े आकार वाली वस्तु को ही आकाश कहते हैं।

दशों दिशाओं में हम कितना भी गमन करते जाएँगे तो भी आकाश

का अन्त नहीं आया। इस कारण स्पर्शादि रहित, अरूपी और अखण्ड तथा विशाल अर्थात् आकाश अनन्त है - यह विषय समझ में आता है।

इस आकाश को लोकाकाश एवं अलोकाकाश, इस तरह दो रूप में भी माना जाता है। यहाँ दोनों आकाश में इतना ही भेद है कि जहाँ जीवादिक छहों द्रव्यों का अस्तित्व है, उस आकाश के विभाग को लोकाकाश कहते हैं तथा जहाँ मात्र आकाशद्रव्य ही है, अन्य कोई द्रव्य नहीं; उस अनन्त आकाश के बहुभाग को अलोकाकाश कहते हैं।

१२. प्रश्न - क्या सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, तारे आदि जहाँ दिखते हैं, उसी को आकाश कहते हैं अथवा दूसरे स्थान पर भी आकाश है?

उत्तर - सूर्य, चन्द्र तारे आदि जहाँ दिखते हैं, उसे ही आकाश मानना असत्य है, क्योंकि हम जिस स्थान पर रहते हैं, वहाँ भी आकाश है। जमीन खोदते जाएँगे तो वहाँ भी आकाश है। खोदने के बाद वहाँ आकाश उत्पन्न होता है - ऐसा भी नहीं है। आकाश सभी दिशाओं में है। आकाश नहीं है - ऐसा कोई स्थान न लोक में है, न अलोक में है; इसलिए आकाशद्रव्य को सर्वव्यापक कहते हैं। हम-आप, आकाश में ही रहते हैं एवं गमनागमन करते रहते हैं।

१३. प्रश्न - क्या कालद्रव्य की सिद्धि भी तर्क से हो सकती है?

उत्तर - क्यों नहीं? दुनिया में नई-पुरानी वस्तुएँ देखने को मिलती हैं - यह नयापन और पुरानापन, काल के बिना कैसे हो सकता है?

दुनिया में करोड़ों बच्चे छोटी उम्र के हैं और करोड़ों लोग वरिष्ठ नागरिक हैं - यह विभाजन, व्यवहार काल (समय, मुहूर्त, दिन-रात, महिना, वर्ष) के बिना सम्भव नहीं है। यह षडद्रव्यमय विश्व अनादि से है और अनन्त काल तक रहनेवाला है - ऐसा कथन भी काल से ही होता है।

प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पंचम, षष्ठ काल आदि काल के भेद भी कालद्रव्य के कारण ही हैं। सुबह जल्दी उठना चाहिए, रात को समय पर सो जाना चाहिए - आदि सब कथन भी कालद्रव्य को सिद्ध करते हैं।

कालरूप व्यवहार, कोई कवि-कल्पना या भ्रमजाल नहीं है, वस्तुस्थिति है; जो सत्य के धरातल पर सदा से अवस्थित है। यद्यपि इस कालरूप कार्य को मात्र हम भारतवासी ही मानते हों, अन्य विदेशी नहीं - ऐसा भी नहीं है; क्योंकि काल की सत्ता समूचे विश्व को स्वीकार है। कालरूप कार्य का व्यवहार भूतकाल में भी था, भविष्य में भी रहेगा और वर्तमान में तो चल ही रहा है; अतः कालात्मक कार्य के लिए निमित्तरूप द्रव्य की सत्ता मानना भी आवश्यक हो जाता है और उसे ही शास्त्रों में 'कालद्रव्य' कहा जाता है।

१४. प्रश्न - आपने छह द्रव्यों की सत्ता की सिद्धि तर्क और युक्ति से तो की, फिर भी आप शास्त्र की शरण नहीं छोड़ना चाहते; शास्त्र की शरण छोड़ने में क्या हानि है?

उत्तर - आपका कहना सही है कि हम शास्त्र के विषय को तर्क और युक्ति से सत्य सिद्ध करने का प्रामाणिक प्रयास करते हैं, असत्य सिद्ध करने का नहीं। हम शास्त्रों में कथित सर्वज्ञ भगवान के परम सत्य विषय को छोड़े भी क्यों? शास्त्र की बात स्वयमेव सत्य है और उसे सत्य सिद्ध करने में ही हमारा हित है। जिनधर्म में परीक्षा का अर्थ ही जिनेन्द्रकथित विषय को सत्य सिद्ध करना है। जिनेन्द्र भगवन्तों द्वारा कथित तत्त्वों (विषय) की यह विशेषता है कि वे तत्त्व, तर्क और युक्ति से अबाधित होते हैं। इसी तथ्य को 'शास्त्र के स्वरूप' के कथन में आचार्य श्री समन्तभद्र ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में निम्न श्लोक द्वारा स्पष्ट किया है -

आप्तोपज्ञ - मनुल्लंघ्य - महष्टेष्टविरोधकम्।

तत्त्वोपदेशकृत्सार्व, शास्त्रं कापथघटनम् ॥१॥

अर्थात् १. जो सर्वज्ञ-वीतराग के द्वारा कथित है, २. जो किसी वादी-प्रतिवादी द्वारा उल्लंघन नहीं किया जा सकता, ३. जिसका दृष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष और ४. इष्ट अर्थात् अनुमान प्रमाण द्वारा विरोध नहीं आता, ५. जो तत्त्व अर्थात् जैसा वस्तु का स्वरूप है, वैसा कथन या

उपदेश करनेवाला है, ६. जो सर्व जीवों को हितरूप तथा कुमार्ग अर्थात् मिथ्यामार्ग का निषेध करनेवाला है; इसप्रकार जो छह विशेषणों से सहित है, उसे सच्चा आगम/शास्त्र कहते हैं।

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी भी 'मोक्षमार्गप्रकाशक' के पृष्ठ २५९ पर परिस्पष्ट करते हैं - "यदि जिनवचन और अपनी परीक्षा में समानता हो, तब तो जानें कि सत्य परीक्षा हुई है। जब तक ऐसा न हो, तब तक जैसे कोई हिसाब करता है और उसकी विधि न मिले, अपनी चूक को ढूँढता है; उसी प्रकार यह अपनी परीक्षा में विचार किया करे।"

छह द्रव्यों की सिद्धि के लिए श्री रामजीभाई दोशी द्वारा मोक्षशास्त्र में दिया गया चिन्तन बहुत युक्तिसंगत है; इसलिए यहाँ उसके आधार से निम्न कथन करते हैं -

**जीव और पुद्गल द्रव्य की सिद्धि**

(१) 'जीव' एक पद है, इसीलिए वह जगत् की किसी वस्तु या पदार्थ को बतलाता है। हमें यहाँ यह विचार करना है कि वह क्या है? इसके विचार करने में हम एक मनुष्य का उदाहरण लेते हैं, जिससे विचार करने में सुगमता हो।

(२) हमने एक मनुष्य देखा, वहाँ सर्वप्रथम हमारी दृष्टि उसके शरीर पर पड़ी तथा यह भी ज्ञात हुआ कि वह मनुष्य, ज्ञानसहित भी है। वहाँ शरीर को चक्षु आदि इन्द्रियों से देखकर निश्चित किया; किन्तु उस मनुष्य के ज्ञान का निश्चय इन्द्रियों से निश्चित नहीं किया; क्योंकि ज्ञान इन्द्रियगम्य नहीं है। ज्ञान का निश्चय उस मनुष्य के वचन या शरीर की चेष्टा के आधार पर किया है। इसप्रकार हमारी नेत्र आदि इन्द्रियों द्वारा शरीर का निश्चय किया, इस ज्ञान को हम इन्द्रियजन्य कहते हैं, लेकिन उस मनुष्य में ज्ञान होने का निश्चय, अनुमानजन्य ज्ञान है।

(३) मनुष्य में हमें दो भेद ज्ञात हुए - १. इन्द्रियजन्य ज्ञान से शरीर और २. अनुमानजन्य ज्ञान से ज्ञान। फिर चाहे किसी मनुष्य में वह ज्ञान,

अल्प मात्रा या विशेष मात्रा में प्रगट हो। अब, हमें यह निश्चय करना चाहिए कि ये दोनों एक ही पदार्थ के गुण हैं या भिन्न-भिन्न पदार्थों के?

(४) यहाँ जिस मनुष्य को हमने देखा, उसके सम्बन्ध में निम्न प्रकार से दृष्टान्त देते हैं -

१. उस मनुष्य का हाथ चाकू आदि से कट गया और शरीर से रक्त (खून) निकलने लगा।
२. उस मनुष्य ने रक्त निकलता हुआ जाना और वह रक्त तुरन्त ही बन्द हो जाए तो अच्छा - ऐसी तीव्र भावना भायी।
३. लेकिन उस समय रक्त ज्यादा निकलने लगा और अनेक उपाय करने पर भी उसके बन्द होने में बहुत समय लगा।
४. रक्त बन्द होने के बाद हमें जल्दी आराम हो जाए - ऐसी उस मनुष्य ने निरन्तर भावना करना जारी रखा।
५. किन्तु भावना के अनुसार परिणाम निकलने के बदले उतना भाग सड़ता गया।
६. उस मनुष्य को शरीर में ममत्व होने के कारण बहुत दुःख हुआ, उसे उस दुःख का अनुभव भी हुआ।
७. दूसरे सगे-सम्बन्धियों ने भी यह जाना कि उस मनुष्य को दुःख हो रहा है; किन्तु वे उसके दुःख या अनुभव का कुछ भी अंश न ले सके।
८. अन्त में हाथ के सड़े हुए भाग को कटवाना पड़ा।
९. यहाँ उसका शरीर तो कमजोर हुआ, तथापि ज्ञानाभ्यास के बल से उसे धैर्य रहा और शान्ति बढ़ी।
१०. यद्यपि वह हाथ कटा, तथापि उस मनुष्य का ज्ञान उतना ही रहा, बल्कि विशेष तत्त्वाभ्यास से वह ज्यादा बढ़ गया; लेकिन बाकी बचा शरीर बहुत कमजोर होता गया तथा वजन भी घटता गया।

(५) अब हमें यह जानना है कि उक्त बातें क्या सिद्ध करती हैं - यही कि मनुष्य में विचार शक्ति (Reasoning Faculty) है और वह तो प्रत्येक

मनुष्य के अनुभवगम्य है। अब विचार करने पर निम्न सिद्धान्त प्रगट होते हैं :-

१. शरीर और ज्ञान - दोनों को धारण करनेवाली वस्तुएँ पृथक्-पृथक् पदार्थ हैं। ज्ञान को धारण करनेवाली वस्तु ने 'खून तत्क्षण ही बन्द हो जाए तो अच्छा - ऐसी तीव्र इच्छा की; तथापि खून बन्द नहीं हुआ। इतना ही नहीं; बल्कि इच्छा के विरुद्ध शरीर की और खून की अवस्था हुई।

२. यदि वे दोनों वस्तुएँ एक ही होतीं तो जब ज्ञान करनेवाले ने इच्छा की थी, उसी समय खून को बन्द हो जाना चाहिए।

३. ऊपर क्रमांक ४-५ में बताई गई भावना के कारण शरीर का वह भाग भी नहीं सड़ता, इसके विपरीत जिस समय इच्छा की, उस समय तुरन्त ही आराम हो जाता; किन्तु दोनों पृथक् होने से वैसा नहीं हुआ।

४. क्रमांक ६-७ में जो हकीकत बतलाई है, वह सिद्ध करती है कि जिसका हाथ सड़ा है वह और उसके सगे-सम्बन्धी सब स्वतन्त्र हैं। यदि वे एक ही होते तो वे उस मनुष्य का दुःख मिलकर या एक होकर भोगते और वह मनुष्य, अपने दुःख का भाग उनको देता अथवा घनिष्ठ सम्बन्धीजन, उसका दुःख लेकर उसे स्वयं भोगते; किन्तु ऐसा नहीं बन सकता। अतः यह सिद्ध होता है कि वे भी इस मनुष्य से भिन्न स्वतन्त्र ज्ञानरूप और शरीरसहित व्यक्ति हैं।

५. क्रमांक ८-९ में जो विगत बतलाई है, उससे सिद्ध होता है कि शरीर संयोगी पदार्थ है; इसीलिए हाथ का उतना भाग, उसमें से अलग हो गया। यदि ज्ञान और शरीर, एक अखण्ड पदार्थ होते तो हाथ का टुकड़ा काटकर अलग नहीं किया जा सकता। पुनश्च यह भी सिद्ध होता है कि शरीर से ज्ञान स्वतन्त्र है, क्योंकि शरीर का अमुक भाग कटा; तथापि उतने प्रमाण में ज्ञान कम नहीं हुआ, किन्तु उतना ही रहा। कभी-कभी शरीर कमजोर होता जाता है; लेकिन ज्ञान बढ़ता जाता है। इसप्रकार यह सिद्ध होता है कि शरीर और ज्ञान, दोनों स्वतन्त्र वस्तुएँ हैं।

६. क्रमांक १० से यह सिद्ध होता है कि कभी-कभी ज्ञान बढ़ता है तो भी वजन नहीं बढ़ता, जबकि ज्ञान के साथ सम्बन्ध रखने वाले धैर्य, शान्ति आदि में वृद्धि होती है। इसीप्रकार कभी-कभी शरीर वजन में घटता है, लेकिन ज्ञान में घटती नहीं होती; इसलिए ज्ञान और शरीर ये दोनों भिन्न, स्वतन्त्र और विरोधी गुणवाले पदार्थ हैं। जैसे,

(अ) शरीर वजनसहित और ज्ञान वजनरहित;

(ब) शरीर घटा, ज्ञान बढ़ा;

(स) शरीर का भाग कम हुआ, ज्ञान उतना ही रहा या फिर बढ़ा;

(द) शरीर इन्द्रियगम्य है, संयोगी है और आत्मा से अलग हो सकता है अथवा किसी दूसरी जगह उसका भाग अलग होकर रह सकता है, जबकि ज्ञानवस्तु इन्द्रियगम्य नहीं, किन्तु ज्ञानगम्य है, उसके टुकड़े या हिस्से नहीं हो सकते, क्योंकि वह असंयोगी है और सदा अपने द्रव्य, क्षेत्र (आकार), काल और भावों से अपने में अखण्डित रहता है और इसलिए उसका कोई भाग अलग होकर अन्यत्र नहीं रह सकता या किसी को दे नहीं सकता;

(इ) यह शरीर, संयोगी पदार्थ से बना है, उसके टुकड़े हिस्से हो सकते हैं; परन्तु ज्ञान वैसा नहीं है। किसी संयोग के कारण कोई अपना ज्ञान दूसरे को दे नहीं सकता, किन्तु अपने अभ्यास से ही ज्ञान बढ़ा सकने वाला, असंयोगी और निज में से आनेवाला होने से ज्ञान स्व-आत्मा के ही आश्रित रहने वाला है।

७. 'ज्ञान' गुणवाचक नाम है, वह गुणी के बिना नहीं होता, इसलिए ज्ञानगुण को धारण करनेवाली वस्तु जीव है; उसे आत्मा, सचेतन पदार्थ, चैतन्य इत्यादि नामों से पहिचाना जा सकता है। इस तरह जीवपदार्थ, ज्ञानसहित, असंयोगी, अरूपी और अपने ही भावों का अपने में कर्ता-भोक्ता सिद्ध होता है और उससे विरुद्ध शरीर, ज्ञानरहित, अजीव, संयोगी

और रूपीपदार्थ सिद्ध होता है; वह पुद्गल नाम से पहचाना जाता है। शरीर के अतिरिक्त जो-जो पदार्थ दृश्यमान होते हैं, वे सभी शरीर की तरह पुद्गल ही हैं और वे सब पुद्गल सदा अपने ही भावों के अपने में ही कर्ता-भोक्ता हैं, जीव से सदा भिन्न होने पर भी वे अपना कार्य करने में पूर्ण सामर्थ्यवान हैं।

८. पुनश्च ज्ञान का ज्ञानत्व कायम रहकर, उसमें हानि-वृद्धि होती है। उस हानि-वृद्धि को ज्ञान की तारतम्यतारूप अवस्था कहा जाता है। शास्त्र की परिभाषा में उसे 'पर्याय' कहते हैं। जो नित्य ज्ञानत्वरूप से स्थिर रहता है, वह 'ज्ञानगुण' है।

९. शरीर, संयोगी सिद्ध है, इसलिए वह वियोगसहित ही होता है। पुनश्च शरीर के छोटे-छोटे हिस्से करें तो अनेक हिस्से हों और जलाने पर राख हो जाए; इसीलिए यह सिद्ध होता है कि शरीर, अनेक रजकणों का पिण्ड है। जैसे, जीव और ज्ञान, इन्द्रियगम्य नहीं, किन्तु विचार (Reasoning) गम्य हैं; उसी तरह पुद्गलरूप अविभागी रजकण भी इन्द्रियगम्य नहीं, किन्तु ज्ञानगम्य है।

१०. शरीर, यह मूलवस्तु नहीं, किन्तु अनेक रजकणों का पिण्ड है और रजकण स्वतन्त्र वस्तुएँ हैं अर्थात् असंयोगी पदार्थ हैं और वे स्वयं परिणामनशील हैं।

११. जीव और रजकण असंयोगी हैं, अतः यह सिद्ध होता है कि वे अनादि अनन्त हैं; क्योंकि जो पदार्थ, किसी संयोग से उत्पन्न नहीं होता, उसका नाश भी नहीं होता।

१२. शरीर एक स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है; किन्तु अनेक पदार्थों की संयोगी अवस्था है। अवस्था, हमेशा प्रारम्भ सहित ही होती है, इसलिए शरीर शुरुआत या प्रारम्भसहित है, वह संयोगी होने से वियोगी भी है।

(६) जीव, अनेक और अनादि-अनन्त हैं तथा रजकण भी अनेक

और अनादि अनन्त हैं। एक जीव, किसी दूसरे जीव के साथ पिण्डरूप नहीं हो सकता; परन्तु स्पर्श गुण के कारण रजकण पिण्डरूप होते हैं।<sup>१</sup>

जीव-पुद्गलद्रव्य के समान आकाश और कालद्रव्य भी सिद्ध किया जा सकता है -

१. अनेक रजकणों के एकमेकरूप होने पर उनमें से नया जीव उत्पन्न होता है यह मान्यता असत्य है; क्योंकि रजकण सदा ज्ञान रहित जड़ हैं। इसीलिये ज्ञान रहित कितने भी पदार्थों का संयोग हो तो भी जीव उत्पन्न नहीं होता। जैसे अनेक अंधकारों के एकत्रित करने पर उनमें से प्रकाश नहीं होता, उसी तरह अजीव में से जीव की उत्पत्ति नहीं होती।

२. ऐसी मान्यता असत्य है कि जीव का स्वरूप क्या है वह अपने को मालूम नहीं होता; क्योंकि ज्ञान क्या नहीं जानता? ज्ञान की रुचि बढ़ाने पर आत्मा का स्वरूप बराबर जाना जा सकता है। इसलिये यह विचार से गम्य ((Reasoning- दलीलगम्य) है, ऐसा ऊपर सिद्ध किया है।

३. कोई ऐसा मानते हैं कि जीव और शरीर ईश्वर ने बनाये, किन्तु यह मान्यता असत्य है; क्योंकि दोनों पदार्थ अनादि-अनन्त हैं। अनादि-अनन्त पदार्थों का कोई कर्ता हो ही नहीं सकता।<sup>२</sup>

**आकाशद्रव्य** : लोग अव्यक्तरूप से यह तो स्वीकार करते हैं कि 'आकाश' नाम का एक द्रव्य है। मकान आदि के दस्तावेजों में ऐसा लिखते हैं कि 'अमुक मकान इत्यादि स्थान का आकाश से पातालपर्यन्त हमारा हक है'; इससे यह निश्चय होता है कि आकाश से पातालरूप कोई एक वस्तु है। यदि आकाश से पातालपर्यन्त कोई वस्तु ही न हो तो ऐसा क्यों लिखा जाता है कि आकाश से पाताल तक हमारा हक (दावा) है; वस्तु है, इसलिए उसका हक माना जाता है। आकाश से पाताल तक

अर्थात् सर्वव्यापी वस्तु को 'आकाशद्रव्य' कहा जाता है। यह द्रव्य ज्ञानरहित और अरूपी है, उसमें रंग, रस वगैरह नहीं है।

**कालद्रव्य** : अब, यह सिद्ध किया जाता है कि 'काल' नाम की भी एक वस्तु है। लोग दस्तावेज कराते हैं और उसमें लिखाते हैं कि 'यावत् चन्द्रदिवाकरौ' जब तक सूर्य और चन्द्र रहेंगे, तब तक इस पर हमारा हक है।' इसमें भी कालद्रव्य को स्वीकार किया गया है। 'वर्तमान में ही हमारा हक है' - ऐसा नहीं, किन्तु भविष्यकाल में भी हमारा हक रहेगा; इसप्रकार वर्तमान एवं भविष्यकाल को स्वीकार करता है। 'हमारा वैभव भविष्य में ऐसा ही बना रहे' - इस भावना में भी भविष्यकाल को स्वीकार किया गया है। हम ऐसा भी कहते हैं कि 'हम तो सात पीढ़ी से सुखी हैं', वहाँ भूतकाल भी स्वीकार करता है।

भूतकाल, वर्तमानकाल और भविष्यकाल - ये समस्त भेद निश्चय 'कालद्रव्य' की व्यवहार 'पर्याय' हैं। यह कालद्रव्य भी अरूपी है और उसमें ज्ञान नहीं है।

इस तरह जीव, पुद्गल, आकाश और कालद्रव्य की सिद्धि हुई। अब धर्म और अधर्म - इन दो द्रव्यों की सिद्धि करते हैं।

**धर्मद्रव्य** : धर्मद्रव्य को भी हम अव्यक्तरूप से स्वीकार करते हैं; क्योंकि छह द्रव्यों के अस्तित्व को स्वीकार किये बिना कोई भी व्यवहार नहीं चल सकता। आना, जाना, रहना इत्यादि कार्यों से छहों द्रव्यों का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। चार द्रव्य तो पहले ही सिद्ध हो चुके हैं। अब बाकी के दो द्रव्य सिद्ध करना हैं। यह कहने से धर्मद्रव्य सिद्ध हो जाता है कि 'वह एक ग्राम से दूसरे ग्राम को जाता है।' इसका अर्थ है कि जीव और शरीर के परमाणुओं में गति होती है। एक क्षेत्र से दूसरा क्षेत्र बदलता है। इस क्षेत्र बदलने के कार्य में किस द्रव्य को निमित्त कहेंगे? क्योंकि ऐसा नियम है कि प्रत्येक कार्य में उपादान और निमित्तकारण होते ही हैं।

१. मोक्षशास्त्र, अध्याय-५, उपसंहार, पृष्ठ ३७८-३८१

२. वही अध्याय-५, उपसंहार, पृष्ठ ३७७-३८९

अब, यह विचार करते हैं कि जीव और पुद्गलों को एक ग्राम से दूसरे ग्राम तक जाने में निमित्त कौनसा द्रव्य होता है? गमन-कार्य के 'जीव' और 'पुद्गल' ये दोनों तो उपादान हैं, लेकिन उपादान स्वयं निमित्त नहीं होता। निमित्त तो उपादान से भिन्न होता है, इसलिए जीव या पुद्गल - ये स्वयं क्षेत्रान्तर के निमित्त नहीं हो सकते।

कालद्रव्य तो परिणामन में निमित्त है अर्थात् पर्याय बदलने में निमित्त है, किन्तु कालद्रव्य क्षेत्रान्तर का निमित्त नहीं है, इसी प्रकार आकाशद्रव्य, समस्त द्रव्यों को रहने के लिए स्थान देता है। जब ये पहले क्षेत्र में थे, तब भी जीव और पुद्गलों को आकाश निमित्त था और दूसरे क्षेत्र में भी वही निमित्त है, इसलिए आकाश को भी क्षेत्रान्तर का निमित्त नहीं कह सकते।

इसप्रकार यह निश्चित होता है कि जो क्षेत्रान्तररूप कार्य हुआ, उसका निमित्त, इन चार द्रव्यों के अतिरिक्त कोई अन्य द्रव्य है। गति करने में कोई एक द्रव्य निमित्तरूप है, किन्तु वह कौनसा द्रव्य है - इसका जीव ने कभी विचार नहीं किया, इसलिए उसकी खबर नहीं है; अतः क्षेत्रान्तर होने में निमित्तरूप द्रव्य को 'धर्मद्रव्य' कहा जाता है - यह द्रव्य भी अरूपी और ज्ञानरहित है।

**अधर्मद्रव्य** : जिसतरह गति करने में धर्मद्रव्य निमित्त है, उसी तरह स्थिति में उससे विरुद्ध अधर्मद्रव्य निमित्तरूप है। जैसे, 'वह एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में आकर स्थिर होता है' यहाँ स्थिर होने में निमित्त कौन है? आकाश स्थिर रहने में निमित्त नहीं है; क्योंकि आकाश का निमित्तपना तो रहने के लिए है, गति के समय भी रहने में आकाश निमित्त था, इसीलिए स्थिति का निमित्त कोई अन्य द्रव्य होना चाहिए, वह द्रव्य 'अधर्मद्रव्य' है - यह द्रव्य भी अरूपी और ज्ञानरहित है।

**उपसंहार** - इसप्रकार जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल - इन छह द्रव्यों की सिद्धि हुई। इन छह के अतिरिक्त सातवाँ कोई द्रव्य भी है नहीं और इन छह में से एक भी न्यून नहीं है, बराबर छह ही द्रव्य हैं और ऐसा मानने से ही यथार्थ वस्तु की सिद्धि होती है।

यदि इन छह के अतिरिक्त सातवाँ कोई द्रव्य हो तो यह बताओ कि उसका क्या कार्य है? ऐसा कोई कार्य नहीं है, जो इन छह से बाहर हो, इसलिए सातवाँ द्रव्य नहीं है। यदि इन छह द्रव्यों में से एक भी कम हो तो यह बताओ कि उसका कार्य कौन करेगा? छह द्रव्यों में से एक भी द्रव्य ऐसा नहीं कि जिसके बिना विश्व का नियम चल सके।<sup>१</sup>

**१५. प्रश्न - क्या इस विश्व में मात्र छह ही द्रव्य हैं?**

**उत्तर** - आपने परिभाषा में प्रयुक्त 'जाति की अपेक्षा' - इस वाक्यांश की ओर ध्यान नहीं दिया; इसलिए आपको यह प्रश्न उपस्थित हुआ है; क्योंकि संख्या की अपेक्षा तो कुल मिलाकर द्रव्यों की संख्या अनन्तानन्त है।

**१६. प्रश्न - कुल मिलाकर द्रव्य अनन्तानन्त हैं - ऐसा आपने कहा। यहाँ हमारा पूँछना यह है कि क्या इसके लिए कुछ शास्त्राधार भी हैं। मात्र आपके लिखने से हमारी श्रद्धा नहीं होती। आप विषय स्पष्ट करें?**

**उत्तर** ह आपका पूँछना गलत नहीं है। अनन्त जिनेन्द्र (सर्वज्ञ) भगवन्तों के उपदेशानुसार आचार्यों ने शास्त्र लिखे हैं; उनमें से अत्यन्त प्राचीन आचार्य श्री कार्तिकेयस्वामी ने कार्तिकेयानुप्रेक्षा नामक शास्त्र की गाथा २२४ में लिखा है -

संतिअणंताणंता तीसु वि कालेसु सव्व दव्वाणि।

अर्थात् सब द्रव्य, तीनों ही कालों में अनन्तानन्त हैं।

**जाति की अपेक्षा** विभाजन किया जाए तो वे सब द्रव्य मात्र छह प्रकार के हैं। प्रत्येक द्रव्य को संख्या की अपेक्षा जानना चाहें तो प्रत्येक द्रव्य की संख्या अलग-अलग है। जैसे, जीवद्रव्य अनन्त हैं। पुद्गलद्रव्य अनन्तानन्त हैं। धर्मद्रव्य मात्र एक ही है। अधर्मद्रव्य भी एक ही है। आकाशद्रव्य भी मात्र एक ही है; लेकिन कालद्रव्य लोकप्रमाण असंख्यात हैं।

१. श्रीरामजीभाई कृत मोक्षशास्त्र टीका, अध्याय ५, उपसंहार, पृष्ठ ३७८ से ३८९ के आधार पर।



१७. प्रश्न - कुल मिलाकर तीन लोक में अनन्तानन्त द्रव्य हैं। इसका समाधान शास्त्राधार से हुआ, इसका हमें अतीव आनन्द है; तथापि आपने छह द्रव्यों की संख्या जो भिन्न-भिन्न रूप से बताई है, तत्सम्बन्धी शास्त्राधार जानने की जिज्ञासा मन में उत्पन्न हुई है, उसका भी हम उत्तर चाहते हैं। शास्त्राधार के बिना विषय मन को स्वीकार नहीं होता, क्या करें?

उत्तर - आपको शास्त्राधार की अपेक्षा रहती है, इसमें कुछ भी गलत नहीं है। शास्त्र, केवलज्ञानी भगवान के उपदेशानुसार रहते हैं। सर्वज्ञ भगवान तो जिनधर्म के प्राण हैं। हम भी आपको शास्त्राधार बताने में उत्साहित हैं, अतः आप कुछ चिन्ता नहीं करें।

हमने जीवादि द्रव्यों की संख्या गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा ५८८ के आधार से लिखी है, इसके रचयिता आचार्य नेमिचन्द्र द्वारा रचित गाथा इसप्रकार हैं -

जीवा अणंतसंखा, णंतगुणा पुग्गला हु तत्तो दु।  
धम्मतियं एक्केक्कं, लोगपदेसप्पमा कालो ॥

अर्थात् जीवद्रव्य अनन्त हैं, उससे अनन्तगुने पुद्गलद्रव्य हैं। धर्म, अधर्म, आकाश - ये एक-एक द्रव्य हैं और अखण्ड हैं तथा लोकाकाश के जितने प्रदेश हैं, उतने ही कालद्रव्य हैं। लोकाकाश के प्रदेश असंख्यात हैं और प्रत्येक प्रदेश पर एक-एक कालाणु स्थित है; इसलिए कालद्रव्य असंख्यात हैं - यह विषय स्पष्ट है।

इस विषय को नेमीचन्द्र सिद्धान्तदेव ने द्रव्यसंग्रह की गाथा २२ में भी कहा है।

१८. प्रश्न - विश्व में जीवादि छह द्रव्य किस प्रकार रहते हैं?

उत्तर - विश्व में जीवादि छह द्रव्य दूध और पानी की तरह एकक्षेत्रावगाही होकर रहते हैं; तथापि वे अपने-अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते; इसलिए जीवादि अनन्तानन्त सभी द्रव्य स्वतन्त्र ही हैं। उनके

रहने का क्षेत्र/स्थान/आकाश एक है; इसलिए इन द्रव्यों का अपना स्वभाव बदल कर, सब द्रव्यों का स्वभाव एक हो गया - ऐसा नहीं है।

एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध को समझने के लिए दूध-पानी के दृष्टान्त से भी स्पष्ट समझ में आ जाता है। जैसे, दो लीटर दूध में दो लीटर पानी डालो अथवा दस लीटर पानी डालो - दूध-दूध ही रहता है और पानी, पानी ही; फिर भी उनमें एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध रहता है। कभी ऐसा नहीं होता की तपेली में पहले से दो लीटर दूध था, बाद में दो लीटर पानी डाला तो दूध-दूध नीचे और पानी-पानी ऊपर ही रहा अथवा तपेली में पहले से एक लीटर पानी था, हमने उस तपेली में दो लीटर दूध डाला तो पानी-पानी नीचे और दूध ऊपर रहा - ऐसा कभी नहीं होता।

यदि दस लीटर दूध में एक ही पाव पानी डालेंगे तो भी वह पानी सम्पूर्ण दूध में एकक्षेत्रावगाहीरूप से व्याप्त हो जाता है। 'एकक्षेत्रावगाह' शब्द का स्पष्ट अर्थ है - एक ही स्थान में व्याप्त होकर रहना। जैसे, जहाँ-जहाँ दूध है, वहाँ-वहाँ पानी है और जहाँ-जहाँ पानी है, वहाँ-वहाँ दूध है। दोनों का पृथक् अस्तित्व दिखाई नहीं देता है। अतः इस प्रसंग पर हमें यह विचार करना है कि दोनों एक ही बर्तन में एक साथ एकक्षेत्रावगाही होकर मिल जाने पर भी क्या वे वास्तव में एक हो गये हैं?

परस्पर मिलने पर भी वे अपने-अपने स्वभाव/स्वरूप तथा लक्षण से अभिन्न और परस्पर भिन्न-भिन्न ही हैं। यदि वे भिन्न नहीं होते तो उसी दूध से मावा बनाते समय पानी सर्वथा निकल कैसे जाता है?

इसका अर्थ यह हुआ कि जब दूध और पानी एक बर्तन में मिले हुए दिखाई देते थे, उस समय भी दोनों नियम से भिन्न-भिन्न ही थे तथा वे भिन्न-भिन्न थे, तभी तो वे विधिपूर्वक एक-दूसरे से भिन्न हो गए। यदि वे स्वरूपतः पहले से ही भिन्न-भिन्न नहीं होते तो कभी भी भिन्न नहीं हो सकते थे।

पण्डितप्रवर दौलतरामजी ने छहढाला (पाँचवीं ढाल, छन्द ७) में आत्मा और शरीर के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए इसी दृष्टान्त का प्रयोग किया है, जो निम्नानुसार है -

‘जल-पय ज्यों जिय-तन मेला, पै भिन्न-भिन्न नहीं भेला’

अर्थात् पानी और दूध के समान जीव और शरीर में मेल/मिलाप दिखाई देता है, परन्तु ये दोनों भिन्न-भिन्न ही हैं, मिले हुए नहीं हैं।

जैसे, पानी और दूध दोनों मिले हुए होने पर भी नियम से भिन्न-भिन्न ही हैं - यह स्पष्ट ज्ञात होता है। वैसे ही जीवादि छह द्रव्य अनादिकाल से पर्यायापेक्षा परस्पर में मिले हुए हैं; फिर भी वे द्रव्यापेक्षा परस्पर एक-दूसरे से भिन्न-भिन्न ही हैं; क्योंकि उनका स्वभाव, स्वरूप और लक्षण सर्वथा भिन्न-भिन्न है तथा भिन्न-भिन्न लक्षणवाले द्रव्य एकरूप कैसे हो सकते हैं?

इस विषय को आचार्य कुन्दकुन्द ने पंचास्तिकायसंग्रह की ७वीं गाथा में निम्नप्रकार समझाया है -

अण्णोण्णं पविसंता, देता ओगासमण्णमण्णस्स।  
मेलंता वि य णिच्चं, सगं सभावं ण विजहंति॥

अर्थात् वे छह द्रव्य, एक-दूसरे में प्रवेश करते हैं, परस्पर अवकाश देते हैं, क्षीर-नीरवत् मिल जाते हैं; तथापि सदा अपने अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते।

१९. प्रश्न - आपने इसके पहले विश्व की परिभाषा समझाते समय भूमिका में ही ‘इस विश्व का कोई कर्ता-धर्ता नहीं है’ - ऐसा संकेत तो किया है; तथापि यहाँ अत्यन्त स्पष्टरूप से समझने के लिए हम पूँछते हैं कि इस विश्व को किसी ने उत्पन्न किया है या नहीं? यदि किसी ने विश्व को उत्पन्न किया ही नहीं तो यह आया कहाँ से? और यह विश्व कब तक रहेगा? क्योंकि दुनिया में हम जो-जो वस्तु या कार्य देखते हैं, वह किसी न किसी के द्वारा बनाया हुआ ही जानने में

आता है; इसलिए हमें यही लगता है और जँचता भी है कि इस विश्व को उत्पन्न करनेवाला कोई न कोई कर्ता होना ही चाहिए।

उत्तर - इस विश्व को किसी ने बनाया या उत्पन्न नहीं किया; क्योंकि इसमें रहनेवाले जीवादि सभी द्रव्य, अनादि-अनन्त एवं स्वयंसिद्ध हैं; इसलिए छह द्रव्यमय यह विश्व भी स्वतःसिद्ध है।

विश्व स्वतःसिद्ध है - इस अति महत्त्वपूर्ण विषय का कथन श्री कार्तिकेयस्वामी ने अपनी एकमेव कृति कार्तिकेयानुप्रेक्षा में लोकभावना के अन्तर्गत निम्न प्रकार किया है -

“सव्वायासमणंतं, तस्स य बहुमज्झसंठिओ लोओ।  
सो केण वि णेव कओ, ण य धरिओ हरिहरदीहिं॥

अर्थात् आकाशद्रव्य का क्षेत्र (प्रदेश) अनन्त है, उसके बहुमध्यदेश (अलोकाकाश के ठीक बीच के असंख्यात प्रदेश) में लोक स्थित है, वह किसी के द्वारा बनाया हुआ नहीं है तथा किसी हरि-हरादि के द्वारा धारण (रक्षा) किया हुआ भी नहीं है।”

इस विषय का और खुलासा करते हुए हिन्दी टीकाकार पण्डित श्री जयचन्दजी छाबड़ा लिखते हैं -

“अन्य मतों में कोई कहते हैं कि लोक की रचना ब्रह्मा करता है, नारायण (विष्णु), रक्षा करता है, शिव, संहार (नाश) करता है तथा कछुआ और शेषनाग इसको धारण किये हुए हैं। जब प्रलय होता है, तब सब शून्य हो जाता है, ब्रह्म की सत्ता मात्र रह जाती है।

पुनः ब्रह्म की सत्ता में से सृष्टि की रचना होती है, इत्यादि अनेक कल्पित बातें कहते हैं; उन सबका निषेध इस गाथा से जान लेना चाहिए।

लोक किसी के द्वारा बनाया हुआ नहीं है, धारण किया हुआ नहीं है, किसी के द्वारा इसका नाश भी नहीं होता है; क्योंकि जैसा वस्तु का यथार्थ स्वरूप है, वैसा ही सर्वज्ञ ने देखा है।”

लोक के सम्बन्ध में श्री कार्तिकेयस्वामी और भी खुलासा करते हैं -

“अण्णोण्णपत्तेसेण य, दव्वाणं अच्छणं भवे लोओ।

दव्वाणं णिच्चत्तो, लोयस्स वि मुणह णिच्चत्तं॥ ११६॥

अर्थात् जीवादिक द्रव्यों की परस्पर एकक्षेत्रावगाहरूप स्थिति (मिलापरूप अवस्थान) को लोक कहते हैं। द्रव्य हैं, वे नित्य हैं; इसलिए लोक भी नित्य है - ऐसा जानना चाहिए।

इसप्रकार छह द्रव्यों के समुदाय को लोक कहते हैं। लोक का प्रत्येक द्रव्य नित्य है; इसलिए लोक भी नित्य ही है।”

सामान्यजन में प्रसिद्ध छहढाला की पाँचवीं ढाल में भी पण्डित श्री दौलतरामजी ने लोकानुप्रेक्षा में स्पष्ट शब्दों में लिखा है -

“किन्हु न करौ, न धरौ को, षड्द्रव्यमयी न हरौ को।

सो लोकमाहिं बिन समता, दुख सहै जीव नित भ्रमता॥

अर्थात् इस लोक को किसी ने बनाया नहीं है, किसी ने टिका नहीं रखा है, कोई नाश नहीं कर सकता और यह लोक छह द्रव्यों से परिपूर्ण है - ऐसे लोक में वीतरागी समताभाव के बिना यह जीव सदैव भटकता हुआ दुःख सहन करता रहता है।”

शास्त्रानुसार कथन तो बहुत हुआ; तथापि यह विषय जब तक हमें हृदय से स्वीकार नहीं होता, तब तक कुछ भी कार्यकारी नहीं होता; इसलिए हम यहाँ तर्क के आधार से और भी विचार करते हैं -

मान लो कि किसी भगवान या ईश्वर या अल्ला ने इस विशाल विश्व को बनाया है।

यहाँ हम पूँछना चाहते हैं कि विश्व को उत्पन्न करनेवाले उस भगवान को किसने बनाया? आप यह भी उत्तर दे सकते हैं कि ‘उस भगवान से भी अधिक जो बलवान भगवान है, उसने विश्व को उत्पन्न करनेवाले भगवान को बनाया।’

तो पुनः हमारा प्रश्न है कि ‘उस अधिक बलवान भगवान को

किसने उत्पन्न किया?’ इस तरह का आपसे हमारा प्रश्न खड़ा ही रहेगा; इसमें अनवस्था नाम का दोष भी आता है, यह भी समझना चाहिए।

फिर आपको थककर अन्त में यही उत्तर देना अनिवार्य हो जाएगा कि एक ही भगवान स्वयंभू है। (उसको किसी ने उत्पन्न नहीं किया) अपने आप बना है, अकृत्रिम है।

ऐसे प्रसंग में हम आपसे कहते हैं कि यदि मजबूरीवश आपको एक जीव को ही सही आखिरकार स्वयंभू मानना पड़ता है तो जीवादि छहों द्रव्यों को - सम्पूर्ण विश्व को ही स्वयंभू क्यों नहीं मानते? जिस विषय को अनन्त सर्वज्ञ भगवन्तों ने अपनी ओंकाररूप दिव्यध्वनि द्वारा अनन्त बार कहा है।

और भी एक तर्क - जिस भगवान ने प्रारम्भ में विश्व की रचना की; उस भगवान ने कहाँ - कौन से स्थान पर खड़े होकर अथवा बैठकर विश्व को बनाया? उस स्थान का नाम हम जानना चाहते हैं।

उत्तर में आप किसी न किसी स्थान का नाम बताओगे ही। इसका अर्थ यह हुआ कि एक भगवान (अर्थात् जीवद्रव्य) अनादि से है - इसका अर्थ जीवद्रव्य, अनादि से सिद्ध होता है।

इसीप्रकार भगवान ने किसी न किसी स्थान पर रहते हुए लोक को बनाया - इसका अर्थ है कि वह स्थान अर्थात् आकाशद्रव्य भी पहले से है अर्थात् जीवद्रव्य एवं आकाशद्रव्य - इन दो द्रव्यों की अनादिपने तथा अकृत्रिमपने की सिद्धि हो जाती है।

लेकिन हमारा फिर भी प्रश्न रहेगा कि भगवान ने विश्व की रचना कब की? इसका उत्तर जो कुछ भी दिया जाए, उससे कालद्रव्य की भी अनायास सिद्धि तो हो ही जाती है।

यदि विश्व-निर्माता भगवान ने छोटे-बड़े पर्वत, पहाड़ियाँ आदि बनाए। नदी-नाले में पानी भी भगवान ने ही उत्पन्न किया। मनुष्य, पशु आदि का शरीर भी तो भगवान ने ही बनाए। सुगन्धित सुन्दर-सुन्दर

फूल, बगीचे आदि भी उसने ही बनाए तो गन्दे स्थान, कीचड़ आदि भी तो भगवान ने ही बनाये हैं; क्योंकि भगवान के अलावा इन्हें कौन बनाएगा? सब काम एक भगवान का ही तो है।

यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक है कि इन वस्तुओं की निर्मिति में अर्थात् रचना के लिए मूल कच्चा माल भगवान को कहाँ से मिला? उन्होंने कहाँ से मँगवाया? किसने दिया? आदि प्रश्न खड़े होते हैं।

उत्तर में किसी व्यक्ति का नाम तो बताया नहीं जा सकता; क्योंकि वह कहाँ से आया? उसको किसने उत्पन्न किया? आदि अनेक आपत्तियाँ/प्रश्न उपस्थित होते हैं।

इसलिए ऐसा कहा जा सकता है कि 'नदी, पहाड़, शरीर आदि के लिए कच्चा माल, सूक्ष्म रीति से पहले से ही सर्वत्र था अथवा भगवान के शरीर में वे सर्व अत्यन्त-अत्यन्त सूक्ष्मरूप में विद्यमान थे। उनको भगवान ने ही चाहे जैसा रूप अपनी शक्ति से दिया। इस कथन से अचेतन, रूपी, जड़ पदार्थ, जिन्हें जिनधर्म में पुद्गलद्रव्य कहा है, वे पदार्थ भी अनादि से ही सिद्ध हो जाते हैं।

पर्वत, नदी, बड़े-बड़े पेड़ इत्यादि के लिए कच्चा माल इधर से उधर अथवा उधर से इधर भेजना-मँगवाना तो पड़ा ही होगा। इसका अर्थ यह भी स्पष्ट होता है कि इन वस्तुओं का आना-जाना अथवा जाना-आना हुआ होगा। इससे धर्मद्रव्य एवं अधर्मद्रव्यों के कार्य (गति-स्थिति) की भी सिद्धि होती है।

हाँ, इन द्रव्यों को नाम आप दूसरा भी दे सकते हैं। हमें नाम से मतलब नहीं है। हमें तो काम या स्वरूप से मतलब है। हमें द्रव्यों का अनादिपना तथा अनन्तपना अपेक्षित है।

आपके प्रश्न में 'यह विश्व कब तक रहेगा?' यह भी पूँछा गया है।

उत्तर स्पष्ट है कि यह विश्व अनन्तकाल पर्यन्त रहेगा। विश्व का कभी नाश नहीं होगा। जीवादि छह द्रव्य अनादि-अनन्त हैं तो छह द्रव्यों

के समूहरूप यह विश्व भी अनादि-अनन्त ही है। जिन द्रव्यों के कारण से विश्व बना है, वे द्रव्य नष्ट नहीं होंगे तो विश्व के नाश का भी कोई कारण शेष नहीं रहता है; इसलिए विश्व अनादि तो है ही, नियम से अनन्तकाल तक भी बना ही रहेगा।

अनेक बार इन दिनों विश्व के नाश की चर्चा भी समाचार पत्रों में पढ़ने को मिलती रहती है। विश्व के नाश के विषय को लेकर वैज्ञानिकों के नये-नये विचार भी सुनने-समझने को मिलते हैं। यदि वास्तविकता को देखा जाए तो जिनधर्म का सामान्य प्राथमिक ज्ञान भी हो तो विश्व के नाश होने या न होने की बात सहज और स्पष्टरूप से समझ में आ सकती है।

विश्व कहाँ से आया? – इस प्रश्न का उत्तर इतना ही है कि लोक में अनादि काल से छह द्रव्य हैं। अलोक में मात्र आकाशद्रव्य है। ये सभी अपनी-अपनी जगह पर ही थे, हैं और रहेंगे। ऐसी अवस्था में विश्व कहाँ से आया – यह प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता अर्थात् विश्व जहाँ है, सदा से वहीं है।

आज से करीब ३० वर्ष पूर्व वैज्ञानिक कहते थे कि कोई स्कायलैब गिरनेवाला है और उससे जगत में बहुत बड़ा विनाशकारी कार्य होनेवाला है – ऐसी चर्चा थी; तथापि वह चर्चा मात्र चर्चा ही रही, कुछ विनाशकारी कार्य नहीं हुआ। वास्तविकता में देखा जाए तो सर्वज्ञ भगवान के द्वारा कथित तत्त्व का सामान्य तथा प्राथमिक ज्ञान भी इस जीव को सुखदाता सिद्ध होता है; इसलिए जिनधर्म का अध्ययन करना अत्यन्त उपयोगी है, इतना ही हम यहाँ बताना चाहते हैं।

दुनिया में जो-जो कार्य होता है, उसे किसी अन्य व्यक्ति ने बनाया ही होता है – यह तर्क यथार्थ नहीं है; क्योंकि ऐसा प्रत्यक्ष देखने में नहीं आता। उदाहरणार्थ – मोर अत्यन्त सुन्दर होता है, जबकि मोरनी उतनी सुन्दर नहीं होती। सामान्यरूप से निसर्ग-प्रकृति में यह जानने को मिलता

है कि पुंवेदी से स्त्रीवेदी मनुष्य अथवा तिर्यचनी, अधिक सुन्दर होती है; लेकिन मोर और मोरनी में यह घटित नहीं होता; क्योंकि इन दोनों का शरीर, कार्य तो है; लेकिन उनका कर्ता कोई व्यक्ति या भगवान नहीं है।

इसी उदाहरण के माध्यम से ईश्वर को कर्ता माननेवाले यह सिद्ध करना चाहते हैं कि यह सब, ईश्वर का कार्य है, दृष्टिभेद है। लेकिन अपनी अल्प एवं सामान्य बुद्धि से जो सत्य लगता है, उसे ही सत्य मानना या उसे ही सत्य सिद्ध करने का प्रयास करना, समझदारी का काम नहीं है।

भाग्य से जिनधर्म के मूल उपदेशदाता सर्वज्ञ भगवान हैं और शास्त्र में जो कथन हैं, वे सर्वज्ञ भगवान के उपदेशानुसार हैं; इसलिए शास्त्र के उपदेश का उपयोग हमें करना चाहिए।

कभी-कभी कोई फल अथवा वनस्पति किसी देवता के समान देखने को मिलती है, इसका अर्थ उसे भगवान ने बनाया है - ऐसा विचार करना उचित नहीं है।

हमें जो ठीक जँचता है, उसे सत्य मानना - यह प्रवृत्ति सर्वत्र गलत तो नहीं है; तथापि इसके पीछे मनन-चिन्तन अवश्य चाहिए तथा समझदार लोगों का विचार भी सुनना एवं समझना चाहिए। अपने विचार को तर्क की कसौटी पर भी कसने का प्रामाणिक प्रयास करना आवश्यक है।

२०. प्रश्न - जिनधर्म को छोड़कर दुनिया में और कोई धर्म, ईश्वर को अकर्ता माननेवाला है क्या? अथवा क्या एक जिनधर्म ही है?

उत्तर - जिनधर्म को छोड़कर अन्य अनेक धर्म/दर्शन भी भगवान - ईश्वर को कर्ता-धर्ता नहीं मानते। बौद्धधर्म को ईश्वरकर्तावाद मान्य नहीं है। इसीतरह सांख्य मत (वैदिक धर्म का एक भेद) एवं चार्वाक मत भी जगत् का कर्ता-धर्ता किसी ईश्वर को नहीं मानता। आज का भौतिक विज्ञान भी ऐसे किसी ईश्वर की सत्ता से इन्कार करता है।

इसप्रकार यह विश्व अनादि-अनन्त होने से इस विश्व के नाश का

भय मिट जाता है और इस जगत् का कर्ता-धर्ता ईश्वर है - यह भ्रान्ति भी निकल जाती है।

२१. प्रश्न - विश्व को जानने से क्या और भी लाभ होते हैं?

उत्तर - हाँ! हाँ! विश्व को जानने से और भी अनेक लाभ होते हैं; उनको यहाँ क्रम से देखते हैं -

(१) जो वीतरागी, सर्वज्ञ और हितोपदेशी होते हैं, वे ही सच्चे देव (आप्त) हैं - ऐसा पक्का निर्णय होता है।

आचार्य समन्तभद्र ने करीब १८०० वर्ष पूर्व देवागम-स्तोत्र (आप्त-मीमांसा) की रचना में सच्चे देव का स्वरूप स्पष्ट किया है। इस स्तोत्र में ११४ श्लोक हैं। इन सब श्लोकों का अर्थ देना यहाँ सम्भव नहीं है एवं उचित भी नहीं है; इसलिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण चार श्लोक अर्थसहित दे रहे हैं; उनमें से स्तोत्र का प्रथम श्लोक -

देवागम - नभोयान - चामरादि - विभूतयः।  
मायाविष्वपि दृष्यन्ते, नातस्त्वमसि नो महान्॥

अर्थात् हे भगवन्! आप हमारी दृष्टि में मात्र इसलिए महान नहीं हो कि आपके दर्शनार्थ देवगण आते हैं, आपका गमन आकाश में होता है और आप छत्र-चँवर आदि विभूतियों से विभूषित हो; क्योंकि ये सब विशेषताएँ तो मायावियों में भी देखी जाती हैं।

दोषावरणयोर्हानि-निःशेषाऽस्त्यतिशायनात्।

क्वचिद्यथा - स्वहेतुभ्यो, - बहिरन्तर्मलक्षयः॥ ४॥

अर्थात् हे भगवन्! आपकी महानता तो वीतरागता और सर्वज्ञता के कारण ही है तथा वीतरागता और सर्वज्ञता असम्भव नहीं है। मोह-राग-द्वेषादि दोष और ज्ञानावरणादि आवरणों का सम्पूर्ण अभाव सम्भव है; क्योंकि इनकी क्रमशः हानि होती देखी जाती है। जिस प्रकार लोक में अशुद्ध कनक-पाषाणादि में स्वहेतुओं से अर्थात् अग्नि-तापादि से अन्तर्बाह्य मल का अभाव होकर स्वर्ण की शुद्धता देखी जाती है, उसीप्रकार

शुद्धोपयोगरूप ध्यानाग्नि के ताप से किसी आत्मा के दोषावरण की सम्पूर्ण हानि होकर वीतरागता और सर्वज्ञता प्रगट होना सम्भव है।

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा।

अनुमेयत्वतोऽग्न्यादि-रिति सर्वज्ञसंस्थितिः ॥ ५ ॥

अर्थात् हे भगवन्! परमाणु आदि सूक्ष्म, राम-रावण आदि अन्तरित एवं मेरु आदि दूरवर्ती पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष हैं; क्योंकि वे अनुमान से जाने जाते हैं। जो-जो अनुमान से जाने जाते हैं, वे-वे किसी के प्रत्यक्ष भी होते हैं। जैसे, दूरस्थ अग्नि का हम धूम देखकर अनुमान कर लेते हैं तो कोई उसे प्रत्यक्ष भी जान सकता है, जानता ही है; उसीप्रकार सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थों को हम अनुमान से जानते हैं तो कोई उन्हें प्रत्यक्ष भी जान सकता है, जानता ही है। इसप्रकार सामान्य से सर्वज्ञ की सत्ता सिद्ध होती है।

स त्वमेवासि निर्दोषो, युक्तिशास्त्राऽविरोधिवाक्।

अविरोधो यदिष्टं ते, प्रसिद्धेन न बाध्यते ॥ ६ ॥

अर्थात् हे भगवन्! उक्त वीतरागी और सर्वज्ञ आप ही हो; क्योंकि आपकी वाणी, युक्ति और शास्त्रों से अविरोधी है। जो कुछ भी आपने कहा है, वह प्रत्यक्षादि प्रसिद्ध प्रमाणों से बाधित नहीं होता है; अतः आपकी वाणी अविरोधी कही गई है।

जिज्ञासुओं को उक्त ग्रन्थ का पूर्ण अध्ययन करना चाहिए।

इसी तरह आचार्य विद्यानन्दि ने करीब ८०० वर्ष पूर्व इस भारतभूमि को पवित्र किया था। उन्होंने भी आप्तपरीक्षा नामक परीक्षाप्रधानी एक ग्रन्थ लिखा है, उसमें भी सच्चे देव की ही परीक्षा की है।

धर्म के आधार-स्तम्भ-स्वरूप देव-शास्त्र-गुरु की परीक्षा करके ही उनका स्वीकार करना चाहिए - यह जिनधर्म की रीति है।

(२) भगवान के प्रति सच्ची भक्ति प्रगट होती है।

समाज में यह अक्सर देखा जाता है कि भगवान हमारा बुरा न करे

और अच्छा करे; इसी भावना से भय एवं लोभवश भगवान की भक्ति की जाती है, जो किसी भी प्रकार से योग्य नहीं है।

जैसे, दो मित्रों या रिश्तेदारों में परस्पर अपनेपन का व्यवहार हो। दो में से कोई एक धनवान और दूसरा निर्धन हो। साधारणतया निर्धन व्यक्ति, धनवान से अत्यन्त विनयसहित व्यवहार करता है, उसके मन में धनवान से किसी विशेष प्रसंग पर विशेष धन प्राप्त होने की तीव्र अभिलाषा बनी रहती है। कभी-कभी धनवान मित्र को इस निर्धन व्यक्ति के मानस का कुछ पता भी नहीं होता; लेकिन निर्धन मनुष्य, धनवान के साथ विशिष्ट आर्थिक लाभ की अपेक्षा से ही सब व्यवहार करता है।

अब हम इस प्रसंग में यह सोचते हैं कि निर्धन व्यक्ति के व्यवहार के पीछे मात्र धनलाभ का ही कैसे अभिप्राय बना रहता है? वह धनवान को नमस्कार करेगा तो भी धनलाभ की अपेक्षा। कुछ शारीरिक कष्ट सहन करके भी धनवान का काम करेगा तो भी धनलाभ का भाव। जब-जब निर्धन मनुष्य, धनवान को देखेगा, जानेगा, उससे बोलेगा, उसका साथ करेगा; उस प्रत्येक समय में निर्धन के मन में धनप्राप्ति की ही अभिलाषा का भाव धारावाही रूप से बना रहता है।

उसी तरह जो मनुष्य, ईश्वर को जगत् का तथा अन्य जीवों के अच्छे-बुरे का कर्ता मानेगा तो उसके मन में ईश्वर के माध्यम से अपना लौकिक कार्य सिद्ध करवाने का भाव रहेगा ही, अक्सर रहता ही है।

वह भगवान को नमस्कार करता है तो भी वास्तविक में वह धन को अर्थात् अपने स्वार्थ/मतबल को ही नमस्कार करता है। ऐसी अवस्था में वह भगवान की भक्ति करते समय भी भगवान की भक्ति कहाँ कर रहा है? वह तो अपने स्वार्थ/मतलब से ही जुड़ा हुआ है, यह विषय अत्यन्त स्पष्ट है।

शास्त्र में 'गुणेषु अनुरागः भक्तिः' - ऐसी भक्ति की परिभाषा मिलती है, परन्तु अज्ञानी को न गुणों का पता है और न गुणों के अनुराग की सुध

है; इसलिए उसे तो भगवान की सच्ची भक्ति हो ही नहीं सकती। ज्ञानी अर्थात् सम्यग्दृष्टि होने पर ही सच्ची भक्ति होती है; ऐसा जानना चाहिए।

जब तक भगवान का सच्चा स्वरूप समझ में नहीं आया, तब तक ऐसा ही चलता रहेगा, इसलिए भगवान का सच्चा स्वरूप समझ में आने पर भगवान के सम्बन्ध में सच्ची भक्ति प्रगट हुए बिना नहीं रहती; क्योंकि सभी गलत प्रवृत्तियों का अभाव एकमात्र ज्ञान से ही होता है। अतः सत्य का स्वरूप समझना ही एकमात्र उपाय/साधन है।

(३) धर्म अर्थात् वीतरागता, शुद्धि एवं रत्नत्रय प्रगट करने का यथार्थ पुरुषार्थ क्या है? - यह समझ में आ जाता है।

आज तक मन में यह भ्रान्ति थी कि भगवान को प्रसन्न करने पर भगवान मेरा काम कर देते हैं - ऐसा चिन्तन मुख्य होने के कारण धर्म का उपाय करने में भगवान के भरोसे रहने की भावना निहित रहती थी; लेकिन जब से यह समझ में आया कि -

“किसी का अच्छा-बुरा करनेवाला कोई भगवान नहीं है। भगवान तो वीतरागी (उनके जीवन में किसी के सम्बन्ध में न प्रेम-राग है और न द्वेष) हैं और सर्वज्ञ तो हैं ही; इसलिए अब मेरे सब काम मेरी जिम्मेदारी पर ही हैं; अतः अब धर्म करने के लिए मैं पूर्ण स्वतन्त्र हूँ।” - इस परिपक्व निर्णय के कारण जीवन की दिशा ही बदल जाती है।

जीवन की दिशा बदल जाने के कारण अब दुःखमय संसारदशा में रखड़ते नहीं रहना है, सुखरूप मोक्षमार्ग में अग्रसर होते हुए मोक्ष की प्राप्ति करना है - ये सब कार्य मैं जैसे करूँगा, जो करूँगा, वही होगा - ऐसा ज्ञान भी शास्त्राधार से हो जाता है।

अब इस ज्ञान के आधार से अर्थात् ज्ञान के ही बल से श्रद्धा की विपरीतता को हटाने का अर्थात् सम्यक्त्व-प्राप्ति का अनुपम कार्य करना चाहिए। मनुष्य जीवन में करने लायक वास्तविक यही एकमात्र कार्य है। सम्यक्त्व ही धर्म का मूल है। यथार्थ तत्त्वज्ञान का स्वीकार किये बिना

सम्यक्त्व नहीं होता; इसीलिए सम्यक्त्व की प्राप्ति के आवश्यक कारणों में देशनालब्धि अर्थात् तत्त्वज्ञान की प्राप्ति को सम्मिलित किया गया है।

(४) लौकिक एवं पारलौकिक जीवन में परावलम्बन का नाश होकर, स्वावलम्बन प्रगट होता है।

अब, जहाँ भगवान के अवलम्बन की बात भी छूट गई अर्थात् एक दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ माने जानेवाले भगवान भी हमारे स्वयं के पुरुषार्थ बिना कुछ कार्यकारी नहीं है - ऐसा निर्णय होने पर अब, अन्य किसकी अपेक्षा रखना? इस कारण स्वयं ही पुरुषार्थ/प्रयत्न करने का एकमात्र मार्ग शेष रह जाता है - ऐसी जागृति जीवन में प्रगट होती है।

इसके उदाहरण अनन्त सिद्ध भगवान हैं। क्या किसी जीव को सिद्ध भगवान बनने के लिए अन्य किसी जीव ने कभी मदद की है?

जो-जो सिद्ध भगवान बने हैं, वे सब अपने स्वयं के पुरुषार्थ से ही बने हैं। जो दुःखमय संसार में भटक रहे हैं, वे अपने ही अपराध से अथवा पुरुषार्थ की हीनता से संसार में रखड़ रहे हैं।

इस वर्तमान काल के आदि तीर्थकर भगवान आदिनाथ/वृषभनाथ जिनेन्द्र ने भी रिश्ते में स्वयं का पोता और भगवान महावीर के जीव, मारीचि को कहाँ सहयोग दिया था? जब मारीचि के जीव ने स्वयं अपना आत्मोद्धार शुरू किया, तब उनकी किसने मदद की थी?

यहाँ कोई कह सकता है कि चारणऋद्धिधारी मुनिराज ने शेर के भव में महावीर के जीव को उपदेश तो दिया था न?

इसका उत्तर भी स्पष्ट है - उपदेशरूप उपकार तो तीर्थकर श्री आदिनाथ भगवान ने भी किया था। लेकिन आत्मोत्थान का कार्य कहाँ हुआ? हुआ ही नहीं। जब जीव स्वयं पुरुषार्थ करता है, तब ही तदनुसार कार्य होता है। उसी समय जो अन्य अनुकूल उपदेश आदि होता है, उसे ही निमित्त कहते हैं। इसप्रकार के हजारों दृष्टान्त शास्त्र में पढ़ने को हमें मिल जाते हैं।

इस घोर विपत्तिमय संसार में अनेक जीवों ने स्वतः पुण्यरूप कार्य से (द्रव्यलिंगी मुनिराज बनकर) नववें ग्रैवेयकपर्यन्त लौकिक जीवन का तो उद्धार कर लिया; तथापि फिर से भटकते-भटकते पुनः निगोद अवस्था को प्राप्त किया। अरे! निगोदरूप निकृष्ट कार्य के लिए भी कोई दूसरा सहकारी नहीं और सिद्धावस्था के उत्कृष्ट कार्य में भी कोई मददगार नहीं - ऐसा ही जगत का वास्तविक स्वरूप है।

(५) सच्ची समझ होते ही भगवान के सम्बन्ध में निरन्तर परेशान करनेवाला व्यर्थ का भय भी नष्ट हो जाता है।

पर्यटन के निमित्त से भारत के अनेक प्रदेशों में हमारा अनेक बार जाना होता है, वहाँ हमें जो देखने को मिलता है, उसके कुछ उदाहरण निम्नप्रकार हैं -

१. कोई भगवान तो भक्तों को आशीर्वाद देते हुए देखने को मिलते हैं।
२. कोई भगवान, शस्त्रों द्वारा दुष्टों को डराते हुए मिलते हैं।
३. कहीं-कहीं भक्त लोग सेवा कर रहे हैं और भगवान सो रहे हैं - ऐसे दर्शन भी होते हैं।
४. अनेक स्थान पर, भक्त भगवान से अत्यन्त भयभीत दिखाई देते हैं।
५. अनेक स्थान पर भक्त रो रहा है और भगवान डाँट रहे हैं - ऐसा दिखाई देता है।
६. कहीं-कहीं भक्त क्षमा माँग रहा है और भगवान क्षमा करने के लिए राजी नहीं हैं। तथा अन्त में क्षमा माँगते-माँगते भक्त मर जाता है; लेकिन भगवान उसे क्षमा नहीं करते हैं।
७. हम देखते हैं कि - कोई भगवान अपनी प्रिय पत्नी के साथ रहते हैं।
८. कोई भगवान अपने परिवार एवं भक्तों के साथ भी विराजते हैं।
९. कोई भगवान संकट अवस्था में नजर आते हैं।

इसी तरह हमें दुनिया में विविध प्रकार के भगवान देखने को मिलते हैं, लेकिन जिनेन्द्र भगवान का स्वरूप दुनिया से एकदम भिन्नस्वरूप तथा सर्वत्र एकरूप देखने-जानने को मिलता है -

१. जिनेन्द्र भगवान न किसी की ओर देखते हैं, न किसी से बात करते हैं।
  २. उनके आसपास, जिनको वे अपना मानते हैं - ऐसा न कोई भक्त है तथा जिनको वे अपना शत्रु मानते हैं - ऐसा न कोई बैरी है।
  ३. जिनेन्द्र भगवान की आँखें, न खुली हैं, न बन्द हैं, उनकी तो नासाग्रदृष्टि है।
  ४. अन्य वस्तु की तो बात ही छोड़ो, शरीर पर वस्त्र का टुकड़ा भी नहीं है, धागा भी नहीं है।
  ५. जिनेन्द्र भगवान ने अपने दोनों हाथों को लटका दिया है; क्योंकि उनको हाथों से करने योग्य कोई कार्य ही नहीं रहा है।
  ६. पद्मासन मुद्रा में वे हाथ पर हाथ रखकर बैठे हुए हैं। मानों हमें समझा रहे हैं - मैं तो किसी का कुछ अच्छा-बुरा करता ही नहीं। वास्तव में जगत् में कोई भी जीव, किसी अन्य द्रव्य का कुछ भी नहीं करता।
२२. प्रश्न - इतना विस्तार से कहकर आप हमें बताना क्या चाहते हो?

उत्तर - अरे! हमने तो लोकमान्य अनेक प्रकार के भगवान के स्वरूप का मात्र ज्ञान कराया है।

२३. प्रश्न - आपके अभिप्राय में और भी कुछ बातें छिपी हुई हैं - ऐसा हमें लगता है। आप अपनी बात स्पष्ट क्यों नहीं करते?

उत्तर - इसमें छिपाने जैसी क्या बात है? जो जैसा होना चाहता है, जिसे जिस अवस्था में सुखी होने का विश्वास है, वह उसे ही अपना भगवान मानता है, उसके जैसा होने का प्रयास करता है। अधिक विस्तार की कुछ आवश्यकता ही नहीं है।

देखो, जब तक वीतरागी भगवान का यथार्थ ज्ञान नहीं होता, तब तक भगवान से व्यर्थ का भय होता है। लेकिन अब व्यर्थ के भय का कुछ काम नहीं है। भगवान-सम्बन्धी सत्य का ज्ञान होने से निर्भयता प्रगट हो जाती है। अब, आपका भी यथार्थ पुरुषार्थ प्रारम्भ हो जाएगा।

(६) भगवान से भोगों की भीख माँगने की भिखारी-वृत्ति का अभाव हो जाता है।



भीख माँगने के विषय को लेकर जैन समाज की एक चमत्कारिक तथा अनुकरणीय वृत्ति, जो सहजरूप से समझ में आती है, उसे बताने के लोभ को मैं रोक नहीं पा रहा हूँ; बता ही देता हूँ। तत्त्वप्रचार के निमित्त से समाज के निमन्त्रणानुसार अनेक प्रान्तों (महाराष्ट्र, कर्नाटक, मध्यप्रदेश, राजस्थान आदि) में मेरा जाना होता है। कभी बड़े-बड़े नगरों में, कभी कस्बों में और कभी-कभी गाँवों में भी जाना होता है। लेकिन मुझे कहीं भी जैन समाज का कोई व्यक्ति, घर-घर जाकर भीख माँगते हुए अपना जीवन बिताते हुए देखने-जानने को नहीं मिला। इसका मुझे आश्चर्य होता है और जैन समाज की यह वीर वृत्ति मुझे अच्छी भी लगती है।

दूसरी ओर एक खेदजनक दृश्य स्पष्ट देखने को अवश्य मिलता है, वह यह कि किसी गाँव का मन्दिर हो, सिद्धक्षेत्र हो, महावीरजी या पद्मपुरा अथवा तिजारा जैसे अतिशय क्षेत्र हों तो क्या पूछना? वहाँ भगवान से भीख माँगनेवालों की भीड़ देखते हुए हृदय को महापीड़ा होती है। इस भिखारी वृत्ति को किसी विद्वान् या त्यागी द्वारा प्रोत्साहित करते हुए देखकर तो महान पीड़ा होती है। लगता है जल में ही आग लगी है।

महावीरजी क्षेत्र पर सन्तानहीन लोग जाते हैं और पुत्रप्राप्ति की कामना करते हैं - ऐसे समय में विचार आता है कि यह कैसी विडम्बना? जिसने शादी ही नहीं की, उससे पुत्र प्राप्त होने का प्रश्न ही नहीं। उन बालब्रह्मचारी महावीर भगवान से अज्ञानीजन पुत्र-प्राप्ति की इच्छा रखते हैं, इससे अधिक अज्ञान का और क्या प्रदर्शन हो सकता है?

जो सम्पूर्णरूप से अपरिग्रही मुनिराज की अवस्था को प्राप्त करके, पूर्ण वीतरागी जिनेन्द्र बनकर, वर्तमान में सिद्धावस्था में विराजमान होकर अनन्त एवं अव्याबाध सुख का आनन्द ले रहे हैं; उनसे धनादि परिग्रह की भावना रखना भी अज्ञानता की गहन महिमा ही मानना चाहिए।

पुण्यपरिणाम से पुण्यकर्म का बन्ध होता है और पुण्यकर्म का उदय आने पर संसार में अनुकूल पदार्थों का संयोग बिना माँगे ही

मिलता है; इतना अति सामान्य ज्ञान तो नामधारी जैन को भी होना ही चाहिए।

इस जगत् में मेरा अथवा किसी का भी अच्छा-बुरा करनेवाला कोई भगवान है ही नहीं - ऐसी समझ प्रत्येक जैन को होना ही चाहिए। यदि इतना ज्ञान भी नहीं है तो उसे जैन कुलोत्पन्न भी कैसे माना जाए? लेकिन करें क्या?

यदि पूर्वजन्म के विशिष्ट पुण्य का उदय न हो तो किसी-किसी को जैनधर्म का यह अति प्राथमिक ज्ञान भी नहीं रहता; इसलिए जिनधर्म के प्राथमिक संस्कारों की प्राप्ति होना भी अति महत्त्वपूर्ण है - ऐसा समझना चाहिए।

अरे! भोगों की भीख में अज्ञानी जीव पंचेन्द्रियों के विषयों को ही चाहता है। लेकिन इन्द्रियों के स्पर्शादि विषय जीव को कभी सुख नहीं दे सकते। सुख तो निराकुलता अर्थात् वीतरागता में ही है - ऐसा श्रद्धान भी जिनवाणी के श्रवण से ही होता है।

(७) जिनेन्द्रकथित धर्म की श्रद्धा दृढ़ होती है और धर्माभासों का बहुमान दह जाता है।

रेल से यात्रा करते समय रेल में, रेलवे स्टेशन पर अथवा बस अड्डे पर भी भीख माँगनेवालों की कुछ कमी नहीं होती है। वे भिखारी भी हमें यदा-कदा समझाते रहते हैं - 'धर्म करो भाई!, धर्म करो। आप मुझे एक हाथ से दान/पैसा दोगे तो भगवान आपको सौ हाथों से देगा।' देखो! भिखारी भी यह बताना चाहता है कि मुझे आप मदद करोगे तो धर्म होगा। इसका अर्थ यह हुआ कि भीख देना धर्म है।

कोई बीमार आदमी है, उसके पास औषधोपचार के लिए आवश्यक धनराशि नहीं है। वह धनवान को धन देकर धर्म करने के लिए निवेदन करता है।

विशिष्ट कोर्स करनेवाला विद्यार्थी धनवानों से कहता है कि मुझे पढ़ने के लिए पैसा दो तो धर्म होगा।

परोपकार में संलग्न ऐसी संस्था चलानेवाले संस्था-संचालक कहते हैं कि हमारी संस्था को आप मदद करोगे तो आपको धर्म होगा। ऐसी परिस्थिति में दान के नाम पर मात्र आर्थिक मदद करना ही धर्म है - ऐसा सब लोग हमें समझाते हैं।

हमें विचार यह करना है कि वास्तविक धर्म क्या है? क्या संकटग्रस्त व्यक्ति को मदद करना ही धर्म है? यदि यही धर्म है तो वीतरागी, सर्वज्ञ एवं हितोपदेशी जिनेन्द्र भगवन्तों ने भी इसी को धर्म कहा है क्या? क्या वे भी ऐसा ही धर्म करते रहते हैं? यदि नहीं तो क्यों नहीं? और क्या इसी तरह का धर्म करते-करते ही सिद्ध भगवान बनना, मुक्त होना, मोक्ष जाना सम्भव है?

लेकिन मैं यह जोर देकर कहना चाहता हूँ कि जिस मनुष्य को धर्म की अल्प भी समझ हो, वह यह समझता होगा कि परोपकार कितना भी करते रहो, उससे सदाकाल के लिए पूर्ण सुखी होना सम्भव नहीं है अर्थात् अरहन्त-सिद्ध अथवा जिनेन्द्र होना सम्भव नहीं है। पण्डित श्री भागचन्द्रजी ने भी भजन में कहा है -

परिणति सब जीवन की तीन भाँति वरनी।

एक पाप, एक पुण्य, एक राग-हरनी॥

अर्थात् जीव के परिणाम तीन प्रकार के होते हैं - १. अशुभराग २. शुभराग ३. रागहरणी अर्थात् वीतराग परिणाम। वीतरागता धर्म है, पुण्य-पाप तो कर्म है; यह जिनधर्म का मर्म है।

एक दोहा आप सभी ने भी सुना ही होगा -

धर्म धर्म सब कोई कहे, धर्म न जाने कोय।

धर्म-मर्म जाने बिना, धर्म कहाँ से होय॥

इस कारण विश्व को जानने से जिनेन्द्रकथित धर्म की श्रद्धा विशेष दृढ़ होती है।

(८) अपना अल्प (मति-श्रुत) ज्ञान भी केवलज्ञान के समान वस्तु के सत्यस्वरूप को जानने लगता है।

२४. प्रश्न - जिनागम का अध्ययन करनेवाले सभी लोग विश्व, लोक, अलोक, छह द्रव्य, सात तत्त्व, सुमेरु पर्वत, अकृत्रिम जिनमन्दिर-जिनबिम्ब, स्वर्ग-नरक, कर्म, परमाणु आदि सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ को जानते हैं - ऐसा सामान्य ज्ञान तो सामान्य पाठकों को भी होता है, उसका क्या कारण है?

उसका एकमेव उत्तर यही है कि जिनेन्द्र भगवन्तों ने परम सत्य वस्तु-स्वरूप को अपने केवलज्ञान से प्रत्यक्ष जान लिया है। केवलज्ञानी ने जो जाना है, उसे उनकी वाणी के आधार पर आचार्यों ने शास्त्र में यथार्थरूप से लिपिबद्ध किया है। आचार्यों द्वारा अक्षरबद्ध/लिपिबद्ध किये हुए विषय को सामान्य-बुद्धिधारक जीवों ने शास्त्र पढ़कर ही जान लिया है। इसी कारण केवलज्ञानगम्य अनेक वस्तुओं को अल्पज्ञ लोग भी मानो प्रत्यक्षवत् ही जानते हैं; केवलज्ञानगम्य वस्तु का ज्ञान और श्रुतज्ञानगम्य वस्तु का ज्ञान; इसमें मात्र प्रत्यक्ष और परोक्ष का ही अन्तर है।

इस विषय को पण्डित टोडरमलजी ने अत्यन्त विशदरूप से रहस्यपूर्ण चिट्ठी में व्यक्त किया है -

“चौथे गुणस्थान में आत्मा के ज्ञानादि गुण एकदेश प्रगट होते हैं और तेरहवें गुणस्थान में आत्मा के ज्ञानादि गुण सर्वथा प्रगट होते हैं। तथा जैसे, दृष्टान्तों की एक जाति है, वैसे ही जितने गुण अव्रती-सम्यग्दृष्टि के प्रगट होते हैं, उनकी और तेरहवें गुणस्थान में जो गुण प्रगट होते हैं, उनकी एक जाति है।

२५. वहाँ तुमने प्रश्न लिखा कि एक जाति है तो जिसप्रकार केवली सर्व ज्ञेयों को प्रत्यक्ष जानते हैं, उसीप्रकार चौथे गुणस्थानवाला भी आत्मा को प्रत्यक्ष जानता होगा?

उत्तर – भाईजी, प्रत्यक्षता की अपेक्षा एक जाति नहीं है, सम्यग्ज्ञान की अपेक्षा एक जाति है। चौथे गुणस्थानवाले को मति-श्रुतरूप सम्यग्ज्ञान है और तेरहवें गुणस्थान वाले को केवलरूप सम्यग्ज्ञान है।

तथा एकदेश-सर्वदेश का अन्तर तो इतना ही है कि मति-श्रुतज्ञान वाला अमूर्तिक वस्तु को अप्रत्यक्ष और मूर्तिक वस्तु को भी प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष, किंचित् अनुक्रम से जानता है तथा सर्वथा सर्व वस्तु को केवलज्ञान युगपत् जानता है; वह परोक्ष जानता है, यह प्रत्यक्ष जानता है; इतना ही विशेष है। और सर्वप्रकार एक ही जाति कहें तो जिसप्रकार केवली युगपत् प्रत्यक्ष अप्रयोजनरूप ज्ञेय को निर्विकल्परूप जानते हैं, उसीप्रकार यह भी जाने – ऐसा तो है नहीं; इसलिए प्रत्यक्ष-परोक्ष का विशेष जानना।

अष्टसहस्री में कहा है –

स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने ।  
भेदः साक्षादसाक्षाच्च, ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत् ॥

(अष्टसहस्री, दशमपरिच्छेद, १०५)

अर्थात् स्याद्वाद अर्थात् श्रुतज्ञान और केवलज्ञान – यह दोनों सर्व तत्त्वों का प्रकाशन करनेवाले हैं। विशेष इतना ही है कि केवलज्ञान प्रत्यक्ष है, श्रुतज्ञान परोक्ष है, परन्तु वस्तु है सो और नहीं है।”

२६. प्रश्न – रहस्यपूर्ण चिट्ठी में तो सम्यग्दृष्टि के ज्ञान के साथ केवल-ज्ञान की तुलना करके बताया है। यहाँ आप तो सामान्यजनों के अल्पज्ञान के साथ उसकी तुलना कर रहे हो; फिर दोनों का सुमेल कैसे होवे?

उत्तर – यद्यपि सम्यग्दृष्टि के ज्ञान को तो आत्मानुभव का आधार है और सामान्यजन के ज्ञान को आत्मानुभव का आधार तो नहीं है; तथापि सामान्यजन के ज्ञान को भी शास्त्र का तो आधार है ही।

पण्डित बनारसीदास के जीवन की एक घटना, यहाँ अति उपयोगी होने से हम उसे अपने शब्दों में दे रहे हैं –

पण्डित बनारसीदासजी ने अपने जीवन में अनेक शास्त्रों की रचना की है, लेकिन उन्हें सम्यक्त्व, शास्त्र लिखे जाने के बाद हुआ। सम्यग्दर्शन, प्राप्ति के बाद उन्हें एक विकल्प हुआ – ‘सम्यग्दर्शन होने के पहले मैंने जो जिनवाणी की रचना की है, उसमें कदाचित् शास्त्र से विरुद्ध कुछ विषय हो तो उसे निकालना आवश्यक है।’ इस विचार से पण्डितजी ने अपना सर्व साहित्य सूक्ष्मता से पढ़ा। पढ़ने के बाद उन्हें निर्णय हुआ कि ‘मुझसे लिखित शास्त्र में तत्त्व के विरुद्ध कुछ भी नहीं है।’ इसका अर्थ यह है कि सम्यक्त्व न भी हुआ हो; तथापि शास्त्रानुसार जो लिखा जाता है अथवा बोला/कहा जाता है, वह भी प्रमाण अर्थात् सत्य ही रहता है।

इसप्रकार हमें यह समझना आवश्यक है कि सामान्य पाठक का शास्त्रानुसार जो जानना होता है, वह जानना भी यद्यपि केवलज्ञानी से ज्ञात विषय के समान प्रमाण अर्थात् सत्य होता है; तथापि उसे सम्यग्ज्ञान नहीं कहते।

(९) इस विशाल विश्व में मैं जीवद्रव्य कहाँ रहता हूँ तथा पुद्गलादि अन्य द्रव्य भी कहाँ रहते हैं? इसका पता लग जाता है।

तीन लोकरूप इस जगत् में अनन्त जीव हैं। उनमें से मैं भी एक स्वतन्त्र जीवद्रव्य हूँ। मेरा निवास इस लोक में है। लोक से बाहर अनन्त अलोकाकाश सर्व दिशाओं में है; तथापि वहाँ मेरा न निवास है और न कभी वहाँ जाना सम्भव है।

जैसे, किसी मनुष्य को अपने सम्बन्धी या मित्र को पत्र लिखना हो तो जिसे पत्र लिखना है, उसके पूरे पते का ज्ञान होना आवश्यक है। पते में उसका नाम, गाँव, घर का नम्बर, मोहल्ला, तहसील, जिला, प्रान्त, पिनकोड आदि का ज्ञान आवश्यक होता है; वैसे ही जीवादि द्रव्यों को जानना हो तो हमें उनके रहने के स्थान का पता जानना आवश्यक है। जीवादि अनन्तानन्त द्रव्य अलोकाकाश में नहीं रहते, मात्र लोकाकाश में

ही रहते हैं। मात्र आकाशद्रव्य ही ऐसा है, जो लोक और लोक के बाहर में भी रहता है; ऐसा निश्चित ज्ञान हो जाता है।

२७. यहाँ कोई प्रश्न करेगा - लोक से बाहर अनन्त आकाश है तो वहाँ जीव-पुद्गलादि पाँच द्रव्य क्यों नहीं जाते? उनके जाने में क्या बाधा है? कम से कम जीव को तो जाना ही चाहिए; क्योंकि वह सब जानता है।

उत्तर - आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र के दसवें अध्याय के ८वें सूत्र में इसका उत्तर निम्न प्रकार दिया है - धर्मास्तिकायाभावात्।

अर्थात् धर्मास्तिकाय का अभाव होने से मुक्त जीव, लोकान्त से और ऊपर नहीं जाते।

इस सूत्र की टीका में आचार्य पूज्यपाद सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ में खुलासा करते हैं - 'गति के उपकार का कारणभूत धर्मास्तिकाय लोकान्त के ऊपर नहीं है, इसलिए मुक्त जीव का अलोक में गमन नहीं होता। और यदि आगे धर्मास्तिकाय का अभाव होने पर भी अलोक में जीव का गमन माना जाता है तो लोकालोक के विभाग का अभाव प्राप्त होता है।'

२८. प्रश्न - धर्मद्रव्य न होने से जीव का अलोकाकाश में गमन नहीं हुआ, इस कारण अधर्मद्रव्य ने मुक्त जीव के गमन को रोक दिया; इससे एक द्रव्य, दूसरे द्रव्य के कार्य में बाधा डाल सकता है; यह विषय सिद्ध होता है, तब फिर प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र है - यह सिद्धान्त कहाँ रहा?

उत्तर - अधर्मद्रव्य अचेतन अर्थात् जड़ है, वह न अपने को जानता है और न अन्य जीवादि को जानता है - ऐसा अधर्मद्रव्य चैतन्यस्वरूप, अनन्त वीर्यवान् एवं अनन्त-अव्याबाध सुख को भोगनेवाले, सर्वोत्तम सिद्ध भगवान् की गति को कैसे रोक सकेगा? अर्थात् वह सिद्ध भगवान् को रोक नहीं सकता।

दूसरा यह भी महत्त्वपूर्ण विषय है कि जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म

और काल - ये पाँच द्रव्य लोक में ही रहते हैं, ये पाँचों द्रव्य लोक के ही हैं अर्थात् लोकाकाश में रहने की पात्रता/योग्यतावाले हैं अर्थात् लोक में ही रहना, उनका अनादि-अनन्त स्वभाव है। ये द्रव्य, अपने स्वभाव के विरुद्ध कैसे कार्य करेंगे?

इसप्रकार इनका गमन, स्थिति अथवा अवस्थान अलोकाकाश में होता ही नहीं - यह वास्तविक वस्तुस्थिति है; तथापि व्यवहार (उपचार) से शास्त्र में अन्य कथन भी होता है। द्रव्य, गुण एवं पर्याय की स्वतन्त्रता का विषय आगे आएगा, वहाँ से जान लेना।

(१०) विश्व को जानने से और भी अधिक लाभ बताने का भाव हो रहा है। इसके समर्थन में हमें आचार्य माणिक्यनन्दि कृत परीक्षामुख ग्रन्थ का समर्थन प्राप्त हो गया है। परीक्षामुख के पंचम परिच्छेद का पहला सूत्र तथा उसकी टीका इसप्रकार है ह

अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलम्॥११॥

अर्थात् अज्ञान की निवृत्ति, हान, उपादान और उपेक्षा - ये प्रमाण के फल हैं।

फल दो प्रकार का होता है ह १. साक्षात् और २. परम्परा।

वस्तु को जानने के साथ ही तत्काल मिलनेवाला साक्षात् फल होता है। पहले किसी प्रमाण से न जानी हुई वस्तु को जब हम जानते हैं, तब तत्काल ही उस विषय-सम्बन्धी अज्ञान दूर होता है; यही अज्ञान की निवृत्तिरूप साक्षात् फल है।

जो फल तत्काल न मिलकर, कालान्तर में मिलता है, वह परम्परा फल होता है। वह हान, उपादान और उपेक्षा के भेद से तीन प्रकार का है।

१. जानने के पश्चात् अनिष्ट या अहितकर वस्तु का त्याग करना, हान है।

२. इष्ट या हितकर वस्तु का स्वीकार करना उपादान है।

३. जो पदार्थ न हितकर है, न अहितकर; उन्हें जानने पर न ही उनका ग्रहण करना और न ही उनका त्याग करना; उनके प्रति सहज उदासीन रहना ह यह उपेक्षा है।''

आचार्यश्री माणिक्यनन्दिकृत ग्रन्थ परीक्षामुख के उपर्युक्त सूत्रानुसार विश्व को जानने से होनेवाले लाभ निम्नानुसार हैं -

१. विश्व विषयक हमारा जो अज्ञान था, उस अज्ञान का नाश विश्व को जानने से होता है। विश्व का विषय पढ़ने के पहले हमें जिनधर्म के द्वारा मान्य विश्व का ज्ञान नहीं था; उसका ज्ञान होना - यह प्रथम लाभ है।
२. अज्ञानजन्य परिपाटी के अनुसार विश्व का कर्ता कोई न कोई ईश्वर आदि होगा ही - ऐसी जो अनिष्ट भ्रान्ति थी, उसका हान अर्थात् त्याग होता है।
३. यह विश्व छह द्रव्यमय, अनादि-अनन्त, स्वयम्भू एवं शाश्वत है; इसप्रकार यथार्थ ज्ञान का उपादान अर्थात् ग्रहण होता है।
४. वीतरागी, सर्वज्ञ एवं हितोपदेशी जिनेन्द्र भगवान द्वारा कथित विश्व को जानकर, विश्व के सम्बन्ध में कपोल-कल्पित अन्य अनेक मिथ्या धारणाओं की उपेक्षा अर्थात् उदासीनता स्वाभाविकरूप से हो जाती है।
५. जगत् के किसी भी जीवादि द्रव्य से कुछ लाभ होता है - ऐसी मिथ्या भ्रान्ति निकल जाती है। अन्य जीवादि द्रव्यों से निरपेक्ष रहने की भावना जागृत होती है।

इसप्रकार यहाँ विश्व सम्बन्धी २८ प्रश्नोत्तर के साथ विवेचन पूर्ण होता है।



## द्रव्य-विवेचन

२९. प्रश्न - विश्व को जानने के अनन्तर ही द्रव्य की परिभाषा को जानना क्यों आवश्यक है?

उत्तर - विश्व की परिभाषा में 'द्रव्य' शब्द आया है, वह द्रव्य क्या है? - ऐसी जिज्ञासा मन में उत्पन्न होना स्वाभाविक है। उस जिज्ञासा को शान्त करने के लिए और द्रव्य सम्बन्धी विस्तृत जानकारी प्राप्त करने की भावना से यहाँ विश्व के बाद द्रव्य की परिभाषा जानना आवश्यक है।

द्रव्य का विवेचन प्रारम्भ होता है। द्रव्य के इस नवीन प्रकरण में -

३०. प्रश्न - द्रव्य किसे कहते हैं?

उत्तर - गुणों के समूह को द्रव्य कहते हैं। अब, विस्तार से इसकी चर्चा करते हैं -

जिन जीवादि छह द्रव्यों के समूह को विश्व कहते हैं, उन्हीं द्रव्यों की चर्चा हमें यहाँ करना है। अन्य रुपया-पैसा, धन-सम्पत्ति आदि लौकिक द्रव्यों/पदार्थों से यहाँ कुछ भी लेना-देना नहीं है।

इन द्रव्यों का पृथक्-पृथक् कथन करने के पूर्व हमें सामान्य रीति से द्रव्य किसे कहते हैं? - यह जानना आवश्यक है। इस द्रव्य के स्वरूप को अनन्त सर्वज्ञ भगवन्तों ने अपनी अनुपम 'दिव्यध्वनि' के द्वारा अनादिकाल से बतलाया है और भविष्य में भी अनन्तकाल तक बताते रहेंगे।

तीर्थकर भगवान आदिनाथ से लेकर तीर्थकर भगवान महावीर पर्यंत मात्र चौबीस तीर्थकरों ने ही नहीं; अपितु सभी केवलज्ञानी, गणधर, आचार्य, मुनिवर और सामान्य ज्ञानियों ने भी द्रव्य के स्वरूप को इसीप्रकार से परिभाषित किया है।

अथवा विरोध होता ही नहीं है - यह बात अच्छी तरह समझ लेना चाहिए।

३१. प्रश्न - अनन्त ज्ञानियों के तात्त्विक कथन में परस्पर विरोध क्यों नहीं आता? अनेक लोगों के कथन में परस्पर विरोध आना स्वाभाविक ही है - ऐसा हमें लगता है।

उत्तर - अनन्त ज्ञानियों के कथन में विरोध न आने का वास्तविक/सच्चा कारण यह है कि वे स्वतःसिद्ध, अनादि-अनन्त वस्तु-व्यवस्था को जैसी है, वैसी ही कहते आये हैं; क्योंकि उन्होंने वस्तु-व्यवस्था का कथन किया है, वस्तु-व्यवस्था को बनाने का कार्य नहीं किया है।

यदि कोई वस्तु-व्यवस्था का कथन अपनी मति-कल्पना से करेगा तो वह नियम से असत्य ही होगा। जिनधर्म की परम्परा में वस्तु का कथन, जैसी वस्तु है, वैसा ही किया गया है; अतः अनन्त ज्ञानियों के तात्त्विक कथन में विरोध कभी आ ही नहीं सकता।

३२. प्रश्न - 'गुणों के समूह को द्रव्य कहते हैं' - यह परिभाषा, कितने द्रव्यों पर लागू होती है और कितनों पर लागू नहीं होती?

उत्तर - द्रव्य की उक्त परिभाषा जाति-अपेक्षा जीवादि सभी छह द्रव्यों पर और संख्या की अपेक्षा सभी अनन्तानन्त द्रव्यों पर लागू होती है। इस विश्व में ऐसा कोई भी द्रव्य नहीं है, जिस पर द्रव्य की यह परिभाषा लागू नहीं होती हो। मैं भी एक जीवद्रव्य हूँ, अतः मुझ पर भी द्रव्य की यह परिभाषा लागू होती है; क्योंकि मैं भी स्वयं अनन्त गुणों का समूहरूप जीवद्रव्य हूँ।

३३. प्रश्न - विश्व की परिभाषा में 'छह द्रव्यों का समूह' और द्रव्य की परिभाषा में 'गुणों का समूह' - ऐसा आया है। यहाँ 'समूह' शब्द का अर्थ दोनों जगह एक समान है या अलग-अलग?

उत्तर - दोनों परिभाषाओं में आए समूह शब्द का अर्थ एक समान न होकर अलग-अलग है। विश्व की परिभाषा में समूह शब्द का अर्थ

पृथक्-पृथक् वस्तुओं के संयोगों को बताना है। जैसे - किसी कमरे में मेज, कुर्सी, पलंग, अलमारी एवं अन्य वस्तुएँ, संयोगरूप से एक स्थान में पायी जाती हैं; उसीतरह आकाश में सर्व द्रव्य रहते हैं। लेकिन विशेष दृष्टि से देखा जाए तो प्रत्येक द्रव्य की सत्ता स्वतन्त्र है और प्रत्येक द्रव्य का क्षेत्र भी भिन्न-भिन्न है।

द्रव्य की परिभाषा में आया हुआ समूह शब्द गुणों में परस्पर तादात्म्य सम्बन्ध बताता है, एकरूपता को सिद्ध करता है। गुणों के समूहरूप द्रव्य में से हम किसी एक गुण को अन्य गुणों से या गुणों को द्रव्य से भिन्न नहीं कर सकते, यही गुणों का तादात्म्यपना है।

जैसे - पुद्गल में स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण आदि अनेक गुण हैं; उनमें से एक गुण को द्रव्य में से अथवा अन्य गुणों से भिन्न नहीं किया जा सकता। इसीप्रकार जैसे - जीवद्रव्य में ज्ञान, दर्शन, श्रद्धा आदि अनेक गुण हैं; उनमें से किसी एक गुण को हम जीवद्रव्य में से अथवा उसके अन्य गुणों से पृथक् नहीं कर सकते।

देखो, भेदनय से द्रव्य में रहनेवाले अनन्त गुणों में से किसी एक गुण को बुद्धि-बल द्वारा अलग करके उस गुण के सम्बन्ध में अधिक जानने अथवा कथन करने का कार्य तो हम-आप कर सकते हैं। जैसे - श्रद्धागुण की पूर्ण एवं निर्मल क्षायिक सम्यक्त्वरूप पर्याय, चौथे गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक कहीं पर भी प्रगट हो सकती है। लेकिन ज्ञान, चौथे से लेकर बारहवें गुणस्थान तक सम्यक् तो होता है, लेकिन ज्ञानगुण की पूर्ण एवं निर्मल क्षायिक केवलज्ञानरूप पर्याय सयोगकेवली नाम के तेरहवें गुणस्थान में ही प्रगट होती है।

३४. प्रश्न - द्रव्य का कर्ता अथवा द्रव्य को बनानेवाला कौन है?

उत्तर - इस प्रश्न का समाधान विश्व की व्याख्या करते समय भी किया गया है कि जीवादि प्रत्येक द्रव्य अनादि-अनन्त स्वतःसिद्ध है; अतः इनका कोई कर्ता-धर्ता नहीं है।

यह वस्तु-स्वरूप का नियम है कि जो वस्तु अनादि-अनन्त होती है, वह स्वतःसिद्ध भी होती है। स्वतःसिद्ध वस्तु का कोई कर्ता या उत्पादक नहीं होता। यदि स्वतःसिद्ध वस्तु का भी किसी को कर्ता माना जाए तो वह वस्तु अनादि-निधन नहीं रहती।

यदि किसी एक द्रव्य को किसी एक अन्य द्रव्य का भी उत्पादक/ बनानेवाला माना जाए तो सम्पूर्ण विश्व का भी वही कर्ता/उत्पादक हो जाएगा; फिर विश्व भी अनादि-अनन्त, स्वतःसिद्ध व स्वतन्त्र नहीं रहेगा। यदि हम विश्व को स्वयंसिद्ध मानें और द्रव्य को स्वयंसिद्ध न मानकर किसी के द्वारा बनाया हुआ मानेंगे तो हमारे कथन में परस्पर विरोध उत्पन्न हो जाएगा। जहाँ कथन में परस्पर विरोध हो तो वहाँ जिनेन्द्रकथित शास्त्र की कसौटी नष्ट हो जाएगी; अतः जब विश्व स्वयम्भू है तो जिनके समूह से विश्व बना है, वे सभी द्रव्य भी स्वयम्भू और स्वतन्त्र ही हैं।

३५. प्रश्न - जैन सिद्धान्त प्रवेशिका में कथित द्रव्य की परिभाषा का समर्थन करनेवाली आगमोक्त अन्य परिभाषाएँ कौन-कौनसी हैं?

उत्तर - अनेक प्राचीन ग्रन्थों में जो परिभाषाएँ आई हैं; तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ के पाँचवें अध्याय में द्रव्य का सामान्य लक्षण बताया है -

‘सद् द्रव्यलक्षणम् ॥२९॥ अर्थात् द्रव्य का लक्षण सत् है।’

यदि ऐसा है तो सत् क्या है? - इसे बताने के लिए अगला सूत्र कहते हैं - ‘उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ॥३०॥

अर्थात् जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य - इन तीनों से समन्वित होता है, वह सत् है।’

इसीप्रकार अन्य प्रकार से द्रव्य का लक्षण बताने के लिए इसी अध्याय में एक और सूत्र कहते हैं - ‘गुणपर्ययवद् द्रव्यम् ॥३८॥

अर्थात् जो गुण और पर्यायवाला है, वह द्रव्य है।’ तात्पर्य यह है कि जिसमें गुण और पर्याय, दोनों एक साथ रहते हैं, वह गुण-पर्यायवाला कहलाता है और वही द्रव्य है।

३६. प्रश्न - द्रव्य में गुणों की संख्या कितनी है?

उत्तर - द्रव्य में गुणों की संख्या अनन्त है।

३७. प्रश्न - गुणों की अनन्तता का क्या स्वरूप है?

उत्तर - इस विश्व में जीव अनन्त हैं, उनसे अनन्तगुने पुद्गलद्रव्य हैं, उनसे अनन्तगुने तीन काल के समय हैं, उनसे अनन्तगुने आकाश के प्रदेश हैं और उनसे भी अनन्तगुने एक द्रव्य में गुण हैं।

पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और प्रत्येक वनस्पति - ये पाँचों स्थावर जीव, द्वि-इन्द्रिय से लेकर असंज्ञी-संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यच पर्यन्त के सर्व त्रस जीव, नारकी जीव, देव जीव और संख्यात मनुष्य जीव - ये सब मिलकर भी जीवों की संख्या मात्र असंख्यात ही होती है। साधारण वनस्पति अर्थात् निगोदिया जीवों को मिला देने पर ही जीवों की संख्या अनन्त होती है।

इन अनन्त जीवों से अनन्तगुने पुद्गलद्रव्य हैं। एक छोटी-सी पुस्तिका भी अथवा कागज के एक छोटा टुकड़ा भी अनन्त पुद्गल परमाणुओं से बना होता है तो विश्व में विद्यमान सर्व पुद्गल, जीव के अनन्त परिमाण से अनन्तगुना होना स्वाभाविक है।

काल तीन भेदवाला है - भूतकाल, भविष्यकाल और वर्तमानकाल। वर्तमानकाल मात्र एक समय का है। भूतकाल अनन्त समयों का है। भविष्यकाल, भूतकाल से हमेशा अनन्तगुना होता है। काल के सम्बन्ध में यह कथन त्रैकालिक है।

३८. प्रश्न - समय किसे कहते हैं?

उत्तर - काल के सबसे छोटे अंश को समय कहते हैं।

उमास्वामी आचार्य ने तत्त्वार्थसूत्र के पाँचवें अध्याय के दो सूत्रों में कहा है - ‘कालश्च ॥ ३१ ॥ सोऽनन्तसमयः ॥ ४० ॥

अर्थात् जीवादि द्रव्यों के समान काल भी एक द्रव्य है और वह अनन्त समयवाला है।’

समय की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि मन्दगति से गमन करनेवाले एक पुद्गल परमाणु को आकाश के एक प्रदेश से निकटवर्ती दूसरे प्रदेश पर जाने में जितना काल लगता है, उसे समय कहते हैं।

मान लीजिए कि हमने आज इसी समय विदेहक्षेत्र में विद्यमान श्री सीमन्धर तीर्थकर के समवसरण में जाकर भगवान से प्रश्न पूँछा - 'भगवन्! भविष्यकाल कितना है?' दिव्यध्वनि में उत्तर आया - 'भूतकाल के अनन्त वर्ष बीत चुके हैं, उससे भी अनन्तगुना भविष्यकाल है।'

पुनः कल्पना कीजिए कि अनन्त वर्षों के बीत जाने के बाद हमें अन्य सर्वज्ञ भगवान के समवसरण में जाने का पुनः सुअवसर मिला और हमने फिर वही प्रश्न किया कि भगवन्! हमने अनन्त वर्ष पूर्व विदेहक्षेत्र में स्थित श्री सीमन्धर परमात्मा से भविष्यकाल विषयक प्रश्न पूँछा था तो उत्तर आया था 'भूतकाल से भविष्यकाल अनन्तगुना है।' अब हम अनन्त वर्ष बीत जाने पर पुनः प्रश्न पूँछ रहे हैं कि 'भविष्यकाल कितना है?' तो दिव्यध्वनि में वही उत्तर आया कि 'भूतकाल से भविष्यकाल अनन्तगुना अधिक है।'

इसतरह पुद्गलद्रव्य से अनन्तगुने तीन के काल के समय हैं और तीन काल के समयों से भी अनन्तगुने आकाश के प्रदेश हैं।

३९. प्रश्न - प्रदेश किसे कहते हैं?

उत्तर - एक अविभागी पुद्गल परमाणु अथवा कालाणु से व्याप्त आकाश के क्षेत्र को प्रदेश कहते हैं।

४०. प्रश्न - परमाणु किसे कहते हैं?

उत्तर - सबसे सूक्ष्म पुद्गल का वह अंश, जिसका दूसरा विभाग न हो सके, उसे परमाणु कहते हैं। परमाणु तथा कालाणु का आकार समान होता है।

४१. प्रश्न - आकाश का अन्तिम छोर-अन्त कब प्राप्त होगा?

उत्तर - मान लो कि हम दश दिशाओं में से किसी एक दिशा अथवा विदिशा में गमन करना प्रारम्भ करें और निरन्तर गमन करते/चलते ही रहें, फिर भी आकाश का छोर/अन्त हमें कभी नहीं मिलेगा।

४२. प्रश्न - हमें छोर नहीं मिलेगा या छोर/अन्त है ही नहीं?

उत्तर - वास्तव में दशों दिशाओं में आकाश कहीं समाप्त ही नहीं होता अर्थात् उसका छोर/अन्त है ही नहीं तो हमें उसका छोर/अन्त मिलेगा कैसे?

४३. प्रश्न - सर्वज्ञ भगवान तो आकाश का अन्त जानेंगे या नहीं?

उत्तर - जब आकाश का अन्त है ही नहीं तो भगवान भी उसका अन्त कैसे जानेंगे? अर्थात् जान ही नहीं सकते।

४४. प्रश्न - तो क्या सर्वज्ञ का केवलज्ञान अपूर्ण है?

उत्तर - नहीं, सर्वज्ञ का ज्ञान तो पूर्ण ही है; अपूर्ण नहीं। जैसी वस्तु है, वैसी ही तो वे जानेंगे। जब आकाश का अन्त है ही नहीं तो वे केवलज्ञानी भी उसका अन्त जानेंगे कैसे?

आचार्य उमास्वामी के गुरु आचार्यश्री कुन्दकुन्द भी पंचास्तिकाय ग्रन्थ की गाथा ९ में कहते हैं -

‘द्वियदि गच्छदि ताइं, ताइं सवभावपज्जयाइं जं।

दवियं तं भण्णंते, अण्णणभूदं तु सत्तादो ॥

अर्थात् उन-उन सद्भावपर्यायों को जो द्रवित करता है, प्राप्त होता है; उसे (सर्वज्ञ) द्रव्य कहते हैं, जो कि सत्ता से अनन्यभूत हैं।

आगे पंचास्तिकाय की गाथा १० में भी आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं -

‘जो सत् लक्षणवाला है, जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य संयुक्त है तथा जो

गुण-पर्यायों का आश्रय है; उसे (सर्वज्ञ) द्रव्य कहते हैं।’

आचार्य कुन्दकुन्द ने ही प्रवचनसार ग्रन्थ के ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन की गाथा क्रमांक ९५, १०१, १०२, १०३ आदि में भी द्रव्य के सम्बन्ध में बहुत स्पष्टतापूर्वक लिखा है। जिज्ञासुओं को समग्ररूप से सूक्ष्मतापूर्वक



इन गाथाओं और इनकी टीकाओं को पढ़ना चाहिए। इन गाथाओं के अध्ययन से वस्तु-व्यवस्था का ज्ञान अत्यन्त स्पष्ट/निर्मल होता है।

पण्डित श्री राजमलजी ने भी पंचाध्यायी ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में द्रव्य के सम्बन्ध में विशेष स्पष्टता के साथ कथन किया है, उसका भी अध्ययन द्रव्य के स्वरूप को समझने के लिए बहुत उपयोगी है।

उक्त दोनों ग्रन्थों का द्रव्य सम्बन्धी सम्पूर्ण विषय यहाँ देना सम्भव नहीं है और उचित भी नहीं है; इसलिए पाठकों के जानकारी के लिए उनका मात्र उल्लेख किया है। शास्त्राभ्यासी पाठकों से निवेदन है कि वे मूलतः उनका अध्ययन करें।

अन्य अनेक प्राचीन आचार्यों तथा विद्वानों द्वारा प्राकृत एवं संस्कृत भाषा में लिखित द्रव्य विषयक कथन, अनेक ग्रन्थों में अनेक स्थान पर मिलते हैं। पंचाध्यायी ग्रन्थ की प्रस्तावना में पण्डित फूलचन्दजी सिद्धान्त शास्त्री ने द्रव्य की अनेक परिभाषाओं का सन्दर्भ देते हुए एवं अन्य अनेक दर्शनों के साथ उसकी तुलना करते हुए अच्छा खुलासा किया है। उस प्रस्तावना का कुछ विशिष्ट भाग हम पाठकों के लाभार्थ यहाँ दे रहे हैं -

### द्रव्य का सामान्य स्वरूप

“विश्व, जड़-चेतन दो प्रकार के तत्त्वों (द्रव्यों/पदार्थों) का समुदाय है। वेदान्त दर्शन के सिवाय शेष सब दर्शनों ने इनकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की है। यहाँ हम उन सब दर्शनों की स्वतन्त्र चर्चा नहीं करेंगे। यहाँ हमें मात्र जैनदर्शन के अनुसार विश्व का विचार करना है और देखना है कि चेतन-जगत् का जड़-जगत् के साथ क्या सम्बन्ध है।

जैनदर्शन, जगत् में मूलभूत छह पदार्थों (द्रव्यों) की स्वीकृति देता है। उनके नाम हैं - जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। ये छहों 'द्रव्य' शब्द के द्वारा पुकारे जाते हैं।

इस द्रव्य शब्द में दो अर्थ छिपे हुए हैं - १. द्रवणशीलता २. स्थायित्व। जगत् का प्रत्येक पदार्थ परिणामनशील (उत्पाद-व्ययशील) होकर भी ध्रुव है, इसलिए उसे 'द्रव्य' कहते हैं - यह उक्त कथन का तात्पर्य है। साधारणतः जैनदर्शन के सिवाय अन्य दर्शनों में द्रव्य के विषय में अनेक मत मिलते हैं -

१. पहला मत - जगत् में जो कुछ है, वह एक है, सद्रूप है और नित्य है। यह मत मात्र एक चेतन तत्त्व की प्रतिष्ठा करता है और विश्व की विविधता को माया का परिणाम बतलाता है।
२. दूसरा मत - जगत् में जो कुछ है, वह नाना (अनेक) है और विशरणशील (उत्पाद-व्ययशील) है।
३. तीसरा मत - सत् को तो मानता ही है, पर इसके सिवा सत् से भिन्न असत् को भी मानता है। वह सत् में भी परमाणु, द्रव्य, काल, आत्मा आदि को नित्य और कार्य द्रव्य घट-पट आदि को अनित्य मानता है।
४. चौथा मत - सत् के चेतन और अचेतन दो भेद करता है; उसमें चेतन को नित्य और अचेतन को परिणामी नित्य मानता है।
५. पाँचवाँ मत - एक मत ऐसा भी है जो जगत् की सत्ता को ही वास्तविक नहीं मानता है।

किन्तु जैनदर्शन में द्रव्य की परिभाषा भिन्न प्रकार से की गई है; उसमें किसी भी पदार्थ को न तो सर्वथा नित्य ही माना गया है और न सर्वथा अनित्य ही। कारण द्रव्य सर्वथा नित्य है और कार्य द्रव्य सर्वथा अनित्य है, यह भी उसका मत नहीं है; किन्तु उसके मत से -

जड़-चेतन समग्र सद्रूप पदार्थ, उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य स्वभावी हैं।

१. अपनी जाति का त्याग किये बिना नवीन पर्याय की प्राप्ति उत्पाद है।
२. पूर्व पर्याय का त्याग व्यय है।
३. अनादि पारिणामिक स्वभावरूप अन्वय का बना रहना ध्रौव्य है।

इसप्रकार उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य मिलकर द्रव्य का निजरूप है। 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्, सद् द्रव्यलक्षणम्' - यह इस दर्शन की घोषणा है।

अब प्रश्न यह होता है कि एक ही द्रव्य, उत्पाद-व्यय और ध्रौव्यरूप कैसे हो सकता है? कदाचित् कालभेद से उसे उत्पाद और व्ययरूप मान भी लिया जाए; क्योंकि जिसका उत्पाद होता है, उसका कालान्तर में नाश अवश्य होता है; तथापि वह ऐसी अवस्था में ध्रौव्यरूप नहीं हो सकता, क्योंकि जिसका उत्पाद और व्यय होता है, उसे ध्रौव्यस्वभावी मानने में विरोध आता है।

समाधान यह है कि अवस्था-भेद से द्रव्य में ये तीनों माने गये हैं। जिस काल में द्रव्य की पूर्व-अवस्था, नाश को प्राप्त होती है; उसी समय उसकी नई अवस्था, उत्पन्न होती है, फिर भी उसका त्रैकालिक अन्वय-स्वभाव बना रहता है; इसलिए प्रत्येक द्रव्य में उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य, स्वभाव से हैं - यह सिद्ध होता है। इस भाव को व्यक्त करते हुए स्वामी समन्तभद्र आप्तमीमांसा में लिखते हैं -

घट-मौलि-सुवर्णार्थी, नाशोत्पाद-स्थितिष्वयम् ।  
शोक-प्रमोद-माध्यस्थयं, जनो याति सहेतुकम् ॥

'घट का इच्छुक उसका नाश होने पर दुःखी होता है; मुकुट का इच्छुक, उसका उत्पाद होने पर हर्षित होता है और स्वर्ण का इच्छुक, न दुःखी होता है, न हर्षित होता है, वह मध्यस्थ रहता है। एक ही समय में यह शोक, प्रमोद और मध्यस्थता का भाव, बिना कारण के नहीं हो सकता, इससे मालूम पड़ता है कि प्रत्येक वस्तु त्रयात्मक है। इस कारण द्रव्य, उत्पाद, व्यय और ध्रौव्ययुक्त है - यह सिद्ध होता है।

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य - ये द्रव्य की अवस्थाएँ हैं। द्रव्य, इनमें व्याप्त होकर स्थित है; इसलिए द्रव्य कथंचित् नित्यानित्य है। उत्पाद और

व्ययरूप अवस्थाओं की अपेक्षा वह कथंचित् अनित्य है और ध्रौव्यरूप अवस्था की अपेक्षा वह कथंचित् नित्य है। द्रव्य की यह नित्या-नित्यात्मकता अनुभव सिद्ध है।

दूसरे शब्दों में द्रव्य को गुण-पर्यायवाला भी कहा जाता है; जिसमें गुण और पर्याय हो, वह द्रव्य है - यह उक्त कथन का तात्पर्य है। गुण अन्वयी होते हैं और पर्याय व्यतिरेकी।

प्रत्येक द्रव्य में कार्यभेद से अनन्त शक्तियों का अनुमान होता है। इन्हीं की गुण संज्ञा है; ये अन्वयी स्वभाव होकर भी सदाकाल एक अवस्था में नहीं रहते हैं; किन्तु प्रतिसमय बदलते रहते हैं। इनका बदलना ही पर्याय है।

गुण अन्वयी होते हैं - इस कथन का यह तात्पर्य है कि शक्ति का कभी भी नाश नहीं होता।

यद्यपि ज्ञान, सदाकाल ज्ञान ही बना रहता है; तथापि जो ज्ञान, वर्तमान समय में है, वही ज्ञान, अगले समय में नहीं रहता। दूसरे समय में वह अन्य प्रकार का हो जाता है।

प्रत्येक गुण अपनी धारा के भीतर रहते हुए ही प्रतिसमय अन्य-अन्य अवस्थाओं को प्राप्त होता है। गुणों की इन अवस्थाओं का नाम ही पर्याय है। इस कारण पर्याय को व्यतिरेकी कहा है। वे प्रतिसमय अन्य-अन्य होती रहती हैं। ये गुण और पर्याय मिलकर ही द्रव्य कहलाते हैं। द्रव्य इनके सिवा स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। ये दोनों उसके स्वरूप हैं।

इस विषय को ठीक तरह से समझने के लिए सोने का दृष्टान्त ठीक होगा - सोना, पीतत्व आदि अनेक धर्म और उनकी तरतमरूप अवस्थाओं के सिवाय स्वतन्त्र कोई पदार्थ नहीं है। कोई सोना कम पीला होता है, कोई अधिक पीला होता है, कोई गोल होता है और कोई त्रिकोण या चतुष्कोण होता है। सोना, इन सब पीतत्व आदि शक्तियों में और उनकी प्रतिसमय होनेवाली विविध प्रकार की पर्यायों में व्याप्त होकर स्थित है; सब द्रव्यों का

यही स्वभाव है। अपने गुण और पर्यायों के सिवा उनकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। इसी से दूसरे शब्दों में उसे गुण-पर्यायवाला कहते हैं।

पहले यद्यपि द्रव्य को उत्पाद-व्यय ध्रौव्यस्वभाववाला बतला आए हैं और यहाँ उसे गुण-पर्यायवाला बतलाया है; पर विचार करने पर इन दोनों लक्षणों में कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता; क्योंकि जो वस्तु उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य शब्द द्वारा कही जाती है, वही गुण-पर्याय शब्द द्वारा कही गई है।

‘उत्पाद और व्यय’ - ये ‘पर्याय’ के दूसरे नाम हैं और ‘ध्रौव्य’ - यह ‘गुण’ का दूसरा नाम है; इसलिए द्रव्य को उत्पाद-व्यय और ध्रौव्यस्वभाववाला कहो अथवा गुण और पर्यायवाला कहो, दोनों का एक ही अर्थ है।

इस प्रकार गुण और पर्याय - ये लक्ष्यस्थानीय है तथा उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य - ये लक्षणस्थानीय हैं। गुण का मुख्य लक्षण ध्रौव्य है तथा पर्याय का मुख्य लक्षण उत्पाद और व्यय है। जिसका लक्षण किया जाए उसे लक्ष्य कहते हैं और जिसके द्वारा वस्तु की पहचान की जाए, उसे लक्षण कहते हैं।

गुण की मुख्य पहचान, उसका सदाकाल बने रहना है और पर्याय की मुख्य पहचान, उसका उत्पन्न और विनष्ट होते रहना है।

अथवा यहाँ द्रव्य को लक्ष्य तथा उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य को या गुण और पर्याय को उसका लक्षण कहा है; इससे सहज ही इनमें भेद की प्रतीति होती है, किन्तु वस्तुतः इनमें भेद नहीं है। भेद, बुद्धि में आता है। वस्तु तो अखण्ड और एक है। जब उसे जिस रूप में देखते हैं, तब वह उसी रूप में दिखाई देती है।

द्रव्य का यह विचार, उसे सत्स्वरूप मानकर ही किया जाता है, इसलिए प्रकारान्तर से द्रव्य को सत् भी कहा जाता है। आशय, इन तीनों व्याख्याओं का एक ही है।”

४५. प्रश्न - द्रव्य के और क्या-क्या नाम हैं?

उत्तर - द्रव्य के वस्तु, सत्, सत्ता, तत्त्वार्थ, पदार्थ, अन्वय आदि अनेक नाम भी हैं।

४६. प्रश्न - यहाँ द्रव्य को तत्त्वार्थ या पदार्थ भी कहा है? जबकि तत्त्वार्थ सात होते हैं, पदार्थ नौ होते हैं और द्रव्य छह होते हैं; अतः द्रव्य को तत्त्वार्थ कैसे कह सकते हैं?

उत्तर - भाईसाहब! आचार्य कुन्दकुन्द ने नियमसार में कहा है -  
जीवा पोग्गलकाया, धम्माधम्मा य काल आयासं।  
तच्चत्था इदि भणिदा, णाणागुणपज्जाएहिं संजुत्ता ॥९॥

अर्थ - जीव, पुद्गलकाय, धर्म, अधर्म, काल और आकाश - यह तत्त्वार्थ कहे हैं, जो कि विविध गुण-पर्यायों से संयुक्त हैं।

४७. प्रश्न - गुणों के समूह को द्रव्य कहा। यहाँ गुणों के समूह का अर्थ दो गुणों का समूह, तीन गुणों का समूह, सैकड़ों या हजारों गुणों का समूह अथवा असंख्यात गुणों का समूह - कितने गुणों का समूह लेना?

उत्तर - दो, चार, सैकड़ों, हजारों अथवा असंख्यात गुणों का समूह - ऐसा अर्थ नहीं लेना; परन्तु नियम से अनन्त गुणों का समूह ही लेना चाहिए। इसका स्पष्ट अर्थ है - अनन्तगुणों के समूह को द्रव्य कहते हैं; क्योंकि प्रत्येक द्रव्य में नियम से अनन्त ही गुण होते हैं।

एकप्रदेशी परमाणु या कालाणु हो अथवा असंख्यातप्रदेशी जीव, धर्म या अधर्म हो अथवा अनन्तप्रदेशी आकाश हो, प्रत्येक में अनन्त ही गुण होते हैं।

४८. प्रश्न - एकप्रदेशी कालाणु या परमाणु में भी अनन्त गुण और असंख्यातप्रदेशी धर्मादि द्रव्यों में या अनन्तप्रदेशी आकाश में भी अनन्त गुण - यह विषय समझ में नहीं आता। क्या करें?

उत्तर - अपना क्षायोपशमिक ज्ञान अति अल्प है, उससे सब विषय स्पष्ट समझ में आए, यह अपेक्षा ही अनुचित है। हम प्रत्यक्षरूप से मनुष्य जीवन में ज्ञान की अल्पता तथा विचित्रता का अनुभव करते हैं।

जैसे, हम अपनी आँख को ऊपर अथवा नीचे से अंगुली द्वारा थोड़ा दबाते हैं तो सामने की वस्तु दो-दो दिखती है। यदि किसी कारणवश चक्कर आ जाए तो दुनिया घूम रही है - ऐसा लगता है। नींद में भी ज्ञान बहुत कम जानता है। समय पर अनुकूल भोजन-पान न मिले तो भी ज्ञान में हीनता आती है। परसों कौनसी सब्जी भोजन में ली थी, इसका भी हमें स्मरण नहीं रहता। डॉक्टर बेहोशी का इंजेक्शन देते हैं तो मनुष्य लकड़ी के समान अचेत जैसा होता है; इसी अवस्था में डॉक्टर लोग, मरीज का ऑपरेशन कर सकते हैं। ४० वर्ष के बाद चश्मे के बिना पढ़ना नहीं बनता और सूक्ष्म जीव भी नहीं दिखते। इसतरह अत्यन्त निकृष्ट ज्ञान द्वारा हम अलौकिक विषय कैसे जान सकते हैं?

४९. प्रश्न - ऐसी अवस्था में हम तत्त्वज्ञान की सूक्ष्मता या लोक में विद्यमान अद्भुत विषयों को जान ही नहीं सकेंगे?

उत्तर - निराश होने की कुछ आवश्यकता नहीं है। हमारे पास भी कुछ विशिष्ट साधन हैं। जैसे - जिनेन्द्र भगवान, केवलज्ञान से सम्पूर्ण वस्तु-जगत् को स्पष्ट एवं पूर्ण जानते हैं; उसीतरह हम भी सम्पूर्ण वस्तु-जगत् को किंचित् अल्पतासहित जान सकते हैं।

५०. प्रश्न - वह कौनसा उपाय अथवा साधन है? जिससे केवलज्ञान से ज्ञात विषयों को हम मनुष्य परोक्षतः जान सकते हैं?

उत्तर - केवलज्ञान से ज्ञात विषयों को जानने का एकमात्र साधन जिनवाणी है, शास्त्र है। आचार्यों द्वारा रचित एवं विद्वानों द्वारा लिखित, या अनुवादित ग्रन्थ हैं। केवलज्ञानी अर्थात् सर्वज्ञ जिनेन्द्र भगवन्तों ने जो और जैसा जाना है, वैसा ही शास्त्रों में विषय लिखा गया है; इसलिए अपनी बुद्धि का भरोसा न रखते हुए शास्त्र के आधार से सूक्ष्म एवं आश्चर्यकारी विषयों को हम जान सकते हैं।

केवलज्ञान ही जिनधर्म का मूल आधार है; यह स्वीकारना अति

आवश्यक है। जो केवलज्ञान को नहीं मानेगा, उसे जिनधर्म समझ में नहीं आएगा और ऐसे अपात्रों को समझाने का व्यर्थ प्रयास भी नहीं करना चाहिए।

एकप्रदेशी कालाणु या परमाणु, असंख्यातप्रदेशी जीव-धर्मादि द्रव्यों तथा अनन्तप्रदेशी आकाशद्रव्य में अनन्त गुण हैं; इसका आधार केवलज्ञानी भगवन्तों द्वारा प्ररूपित जिनवाणी/शास्त्र ही है।

इसप्रकार प्रत्येक द्रव्य में नियम से अनन्तगुण होते हैं -ऐसा हमें पक्का निर्णय हो जाना चाहिए।

५१. प्रश्न - यदि कोई मनुष्य एक ही गुण को द्रव्य मानेगा तो क्या आपत्ति आएगी?

उत्तर - एक तो वस्तुस्वरूप से विपरीत ज्ञान होगा; क्योंकि किसी भी द्रव्य में मात्र एक ही गुण हो - ऐसा होता ही नहीं। दूसरी बात सर्वज्ञ भगवान के विरुद्ध मान्यता होगी, सर्वज्ञ भगवान की आज्ञा की अवहेलना होगी।

यदि एक गुण को एक द्रव्य मानेंगे तो एक द्रव्य में अनन्त द्रव्य मानना होगा; क्योंकि प्रत्येक द्रव्य में अनन्त गुण हैं - यह वास्तविक स्थिति है।

५२. प्रश्न - प्रत्येक द्रव्य में अनन्त गुण हैं, उस अनन्त का क्या स्वरूप है।

उत्तर - इस विश्व में जीवद्रव्य अनन्त हैं, उनसे अनन्तगुने अधिक पुद्गलद्रव्य हैं, उनसे अनन्तगुने अधिक तीन काल के समय हैं, उनसे अनन्तगुने अधिक आकाश के प्रदेश हैं और उनसे भी अनन्तगुने अधिक एक द्रव्य में गुण होते/रहते हैं।

संख्या सम्बन्धी कथन जीवकाण्ड गाथा ५८८ एवं ५९० में निम्नप्रकार आता है - जीवा अणंतसंखाणंतगुणा पुग्गला हु तत्तो दु। अर्थात् वहाँ द्रव्य प्रमाण से जीवद्रव्य अनन्त हैं; उनसे अनन्तगुने पुद्गल परमाणु हैं।

‘ववहारो पुण कालो, पोग्गलदव्वादणंतगुणामेत्तो।

तत्तो अणंतगुणिदा, आगासपदेसपरिसंखा ॥५९०॥

अर्थात् व्यवहार काल जो समयरूप है, वह पुद्गलद्रव्य से अनन्त गुना जानना। उन तीन - (काल भूत, भविष्य, वर्तन) के समयों से अनन्तगुने आकाश के सर्व प्रदेशों की संख्या जाननी (तथा आकाश के प्रदेशों की संख्या (अनन्त) से भी अनन्तगुने एक द्रव्य में गुण होते/रहते हैं।)'

५३. प्रश्न - द्रव्य का कर्ता कौन है? अर्थात् द्रव्य को किसने उत्पन्न किया? या बनाया है?

उत्तर - वास्तविकरूप से विचार किया जाए तो 'छह द्रव्यों के समूह को विश्व कहते हैं' - इस परिभाषा के माध्यम से 'द्रव्य भी स्वयम्भू है' - यह हमें समझ में आ जाना चाहिए।

जिसतरह विश्व अनादि-अनन्त एवं स्वयम्भू है, उसीतरह प्रत्येक द्रव्य (छहों द्रव्य) भी अनादि-अनन्त एवं स्वयम्भू ही हैं। किसी भी द्रव्य का कोई कर्ता अर्थात् उत्पादक नहीं है।

जिसतरह विश्व एवं द्रव्य, अनादि-अनन्त तथा स्वयम्भू हैं, उसीतरह प्रत्येक द्रव्य में रहनेवाले अनन्त गुण भी अनादि-अनन्त एवं स्वयम्भू ही हैं।

पंचाध्यायी ग्रन्थ के प्रथम अध्याय के ८वें श्लोक में यह विषय स्पष्ट रूप से आया है, उसे हम आगे दे रहे हैं -

'द्रव्यं सल्लाक्षणिकं, सन्मात्रं वा यतः स्वतःसिद्धम्।  
तस्मादनादिनिधनं, स्वसहायं निर्विकल्पं च॥

अर्थात् द्रव्य का लक्षण सत् है या सन्मात्र ही द्रव्य है तथा जिस कारण से वह स्वतःसिद्ध है; उसी कारण वह विनाशरहित है, अनादि है, अनिधन है, स्वसहाय है और निर्विकल्प अर्थात् अखण्ड है।'

इस श्लोक में द्रव्य के जो अनेक प्रकार के लक्षण बताये हैं, उनसे यह अत्यन्त स्पष्ट है कि द्रव्यों का कोई भी कर्ता-धर्ता-हर्ता नहीं है अर्थात् कोई ईश्वर, द्रव्य को बनाने वाला/उत्पादक नहीं है।

५४. प्रश्न - द्रव्य में गुणों को किसने एकत्रित किया?

उत्तर - द्रव्य में गुणों को किसी ने भी एकत्रित नहीं किया है। द्रव्य

स्वयमेव ही अनादिकाल से अनन्त गुणमय है और अनन्त काल तक अनन्त गुणमय ही रहेगा; अतः द्रव्य भी विश्व के समान स्वयम्भू अर्थात् स्वयंसिद्ध एवं स्वतन्त्र है। द्रव्य में गुणों को कहीं से लाकर इकट्ठा नहीं किया है। अनन्तगुण अपने आप ही अनादि से एकत्रित हैं अर्थात् वे एक ही वस्तु में हैं और उसी वस्तु की द्रव्य संज्ञा है।

५५. प्रश्न - द्रव्य को जानने से हमें क्या लाभ है?

उत्तर - १. द्रव्य के सम्बन्ध में अनादि से चलता आया हुआ पुराना अज्ञान नष्ट होता है और द्रव्य सम्बन्धी यथार्थ ज्ञान प्रगट होता है। - यह प्रथम लाभ है।

२. विश्व के कारण का पता चलता है अर्थात् द्रव्यों से ही विश्व बना हुआ है - ऐसा स्पष्ट ज्ञान होता है।

३. विश्व में सर्वत्र ही जीवादि द्रव्य ही द्रव्य हैं। एक प्रदेशमात्र भी स्थान द्रव्यों से रहित नहीं है; इसतरह विश्व, द्रव्यों से लबालब भरा हुआ है; इसका पता चलता है।

४. द्रव्य का अभाव माना जाए तो विश्व का अभाव होगा, इस आपत्ति का भान होता है। इस कारण द्रव्य का सर्वत्र अस्तित्व मानना अनिवार्य है।

५. अपना ज्ञान, केवलज्ञानी अथवा सम्यग्ज्ञानी के ज्ञान के समान यथार्थ/सम्यक् हो जाता है; क्योंकि सर्वज्ञ भगवान और ज्ञानी लोग, द्रव्य का अस्तित्व मानते हैं और मैंने भी द्रव्य का अस्तित्व मान लिया है।

६. सर्वज्ञ के द्वारा कथित द्रव्य का स्वरूप जानने से रागी-द्वेषी एवं असर्वज्ञ के द्वारा कथित द्रव्य के कथन की उपेक्षा हो जाती है।

७. प्रत्येक द्रव्य, अनन्त गुणात्मक पूर्ण वस्तु है, शून्य नहीं; अतः प्रत्येक द्रव्य की पूर्णता और परद्रव्यों से निरपेक्षता का ज्ञान होता है।

८. प्रत्येक द्रव्य, विश्व के समान स्वयम्भू एवं स्वतन्त्र है; अतः

किसी भी द्रव्य का कोई भी कर्ता-धर्ता और हर्ता नहीं है - इस सत्य का ज्ञान होता है।

९. परस्पर विरुद्ध स्वभावी अनन्त द्रव्य, एक ही विश्व में अविरोधरूप से अनादिकाल से रहते आये हैं और अनन्त काल तक रहेंगे - ऐसा जानने से सह-अस्तित्व की शिक्षा मिलती है।

१०. प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र होने से, मैं जीवद्रव्य किसी का कुछ अच्छा-बुरा नहीं कर सकता और अन्य द्रव्य भी मेरा कुछ अच्छा-बुरा नहीं कर सकते - ऐसा निर्णय होता है।

११. प्रत्येक द्रव्य में अनन्त गुण होते हैं; इस समझ से कोई भी द्रव्य छोटा-बड़ा नहीं है - यह श्रद्धा दृढ़ होती है।

५६. प्रश्न - हम कौन से द्रव्य हैं?

उत्तर - हम अर्थात् हमारी आत्माएँ जीवद्रव्य हैं; क्योंकि हम ज्ञानमय हैं और जानने का ही कार्य करते हैं। हमारा शरीर, स्पर्शादि गुणमय पौद्गलिक जड़ है, नाशवान है।

५७. प्रश्न - हम मनुष्य हैं, मानवता हमारा धर्म/कर्तव्य है - ऐसा आप क्यों नहीं समझाते?

उत्तर - यहाँ तो केवलज्ञानी अर्थात् सर्वज्ञ जिनेन्द्र भगवान ने जो अलौकिक तत्त्व कहा है, उसकी चर्चा चल रही है। मनुष्य अवस्था/पर्याय तो सौ-पचास वर्ष तक रहेगी, उसकी क्या बात करना?

अपने को वास्तविकरूप से मनुष्य मानना ही तो मिथ्यात्व है। इसलिए स्थूल/उपचरित/तात्कालिक सत्य की चर्चा करने में हमें रस नहीं है। अनन्त सर्वज्ञ भगवन्तों द्वारा कथित अलौकिक तत्त्व को बताने का ही हमारा मानस/भाव है।

आचार्य वादीभसिंह सूरि ने क्षत्रचूड़ामणि ग्रन्थ (प्रथम लम्ब) श्लोक ७८ में निम्न प्रकार से अपने आत्मा को जानने की प्रेरणा दी है -

‘कोऽहं कीदृग्गुणः, क्वत्यः किं प्राप्यः किं निमित्तकः।  
इत्यूहः प्रत्यहं नो चेदस्थाने ही मतिर्भवेत्॥

मैं कौन हूँ? मुझ में कौन से और कैसे गुण हैं? मैं कहाँ से आया हूँ? इस भव में मुझे क्या प्राप्त करने योग्य है? और उसमें क्या योग्य निमित्त है? इसप्रकार के विचार प्रतिदिन न हों तो बुद्धि अयोग्य कार्यों में प्रवृत्त हो जाती है।”

देखो! आचार्यश्री ने प्रथमानुयोग के शास्त्र में भी पाठकों को अपनी आत्मा को जानने की जो सलाह दी है, यह बहुत महत्वपूर्ण है।

५८. प्रश्न - उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य एक ही समय में होते हैं; इसप्रकार जानने से क्या कुछ हमें लाभ भी है?

उत्तर - १. किसी भी पर्याय को इष्ट अथवा अनिष्ट जानना, यह गलत है; क्योंकि द्रव्य में जो पर्याय होने लायक थी, वही हुई है - ऐसा जानने से जीव की आकुलता मिटती है।

२. अपनी कल्पना से अज्ञानी जिस पर्याय को इष्ट मानता है, उसे नित्य रखना चाहता है; लेकिन कोई भी पर्याय नित्य रहेगी ही नहीं, पर्याय का नाश होना स्वाभाविक है - ऐसा ज्ञान होने से जीव को शान्ति प्राप्त होती है। जैसे, युवारूप अवस्था को मनुष्य नित्य चाहता है। धन, यश, आदि अवस्था की नित्यता चाहता है; लेकिन कोई भी अवस्था नित्य रहती ही नहीं - यह वस्तुस्वरूप है।

३. किसी को कोई पर्याय अनिष्ट लगती हो तो समझदार जीव यह समझ सकता है कि यह जो पर्याय होनी है, वह होगी ही, हमें क्यों परेशान होना? - ऐसा जानकर समाधान प्राप्त कर सकता है। जैसे, रोग से पीड़ित व्यक्ति को देखा नहीं जा सकता है। वर्तमानकाल में अनुकूलता में जीवन जी रहे व्यक्ति को देखकर, अज्ञानी उस अवस्था को चाहता है; लेकिन चाहने से कोई भी अवस्था मिलती नहीं - ऐसा पक्का निर्णय होता है।

४. किसी को शत्रु अथवा मित्र मानने की भावना अनुचित है - ऐसा ज्ञान होने से मनुष्य को समाधान मिलता है, इष्टानिष्ट बुद्धि निकल जाती है।
५. इष्टानिष्ट बुद्धि निकल जाने से जीव, ज्ञाता-दृष्टा बनने में समर्थ होता है, उसे धर्म प्रगट करने के मार्ग का सम्यग्ज्ञान होता है।
६. हेय (छोड़ने योग्य) और उपादेय (ग्रहण करने योग्य) का यथार्थ ज्ञान होता है। हेयोपादेय का ज्ञान करना - यही शास्त्र-स्वाध्याय का फल है।
७. क्रमबद्धपर्याय का सच्चा निर्णय होता है।
८. ध्रौव्यदृष्टि हो जाती है अर्थात् 'मैं भगवान आत्मा ही हूँ' - ऐसा श्रद्धान करने का पुरुषार्थ जागृत होता है।

### जीवद्रव्य का सामान्य स्वरूप

५९. प्रश्न - जीव किसे कहते हैं?

उत्तर - जिसमें चेतना अर्थात् ज्ञान-दर्शनरूप शक्ति है, उसे जीव-द्रव्य कहते हैं?

६०. प्रश्न - जीव के कितने भेद-प्रभेद हैं?

- उत्तर - भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से जीव के अनेक भेद/प्रकार हैं -
१. संसारी और मुक्त - ऐसे दो भेद हैं।
  २. बहिरात्मा, अन्तरात्मा एवं परमात्मा - ऐसे तीन भेद हैं।
  ३. गतियों की अपेक्षा - नारकी, तिर्यच, मनुष्य और देव - ऐसे चार भेद हैं।
  ४. इन्द्रियों की अपेक्षा - एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रिन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय - ऐसे पाँच भेद हैं।
  ५. षट्काय की अपेक्षा - एक त्रस एवं पृथ्वीकायिक आदि पाँच - ऐसे छह भेद हैं।

६. एकेन्द्रिय के दो भेद - बादर और सूक्ष्म, विकलत्रय के तीन भेद - द्वीन्द्रिय, त्रिन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय के दो भेद - संज्ञी, असंज्ञी - ऐसे सात भेद हैं। इन सात के ही पर्याप्त-अपर्याप्त की अपेक्षा चौदह भेद होते हैं।

अन्य-अन्य अपेक्षाओं से १८, १९, ५७, ९८ आदि भेद भी होते हैं। जिज्ञासु पाठकगण गोम्मटसार जीवकाण्ड का जीवसमास अधिकार देखें।

६१. प्रश्न - जीव को भेद-प्रभेदों के साथ जानने से हमें क्या लाभ है?

उत्तर - १. जीव के सम्बन्ध में हमारे अज्ञान का व्यय (नाश) होता है और ज्ञान का उत्पाद (नवीन अवस्था) होता है। इसप्रकार अज्ञान का नाश और ज्ञान की प्राप्ति - यह प्रथम लाभ है।

२. जीव के सूक्ष्म-बादर आदि भेदों का ज्ञान होने से जीवदया की प्रेरणा मिलती है। कहा भी है ह

जीव जाति जाने बिना, दया कहाँ से होय।

३. जीव का चारों गति में दुःखदायी भ्रमण जानने से मनुष्य पर्याय की दुर्लभता समझ में आती है और स्वयमेव वैराग्यभाव जागृत होता है।

४. जीव के भेद-प्रभेदों को जानने से जीवादि के सर्व द्रव्य-गुण-पर्यायों को जाननेवाले केवली भगवान के सूक्ष्म व विशाल ज्ञान का बोध होता है एवं सर्वज्ञता के प्रति श्रद्धा अत्यन्त दृढ़ होती है।

५. जीव को जानने से स्वयमेव ही 'मैं एक स्वतन्त्र जीवद्रव्य हूँ। अन्य जीव एवं पुद्गलादि द्रव्यों से मेरा कुछ भी सम्बन्ध नहीं है' हूँ ऐसा भेदज्ञान होता है।

६. जीव को पुद्गल से भिन्न जानते ही तत्त्व का सार समझ में आता है। इस सम्बन्ध में आचार्य पूज्यपाद इष्टोपदेश ग्रन्थ में कहते हैं ह

जीव जुदा पुद्गल जुदा, यही तत्त्व का सार।

७. ज्ञान एवं आनन्द की निरन्तर वृद्धि होती है।

८. इस विश्व में जीव अनन्त हैं एवं सभी स्वतन्त्र हैं - ऐसा जानने के कारण मैं किसी जीव का भला-बुरा नहीं कर सकता और मेरा भी कोई जीव, कुछ बिगाड़-सुधार नहीं कर सकता - ऐसी सच्ची प्रतीति होती है।

९. इस विश्व में एक लोक-व्यापक ब्रह्म ही चेतन है, अंगुष्ठ मात्र आत्मा है, जगत् में जीव जैसा कोई चेतन द्रव्य है ही नहीं; इत्यादि मिथ्या मान्यताओं का निराकरण होता है।

१०. निजात्मस्वरूप का ज्ञान होने से परकर्तृत्व का भाव टूटता है।

११. जीव को जानने के कारण जीवतत्त्व से जीवद्रव्य भिन्न है और मेरा निज जीवतत्त्व ही दृष्टि का विषय एवं ध्यान का ध्येय है - ऐसा निर्णय होता है एवं धर्म प्रगट करने का पुरुषार्थ जागृत होता है।

### पुद्गलद्रव्य का सामान्य स्वरूप

६२. प्रश्न - पुद्गल किसे कहते हैं?

उत्तर - जिसमें स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण - ये विशेष गुण होते हैं; उसे पुद्गल कहते हैं।

तत्त्वार्थसूत्र के पाँचवें अध्याय के ५वें सूत्र में कहा है - 'स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण-वन्तः पुद्गलाः।' इसी अध्याय के २३वें सूत्र में 'रूपिणः पुद्गलाः।' - ऐसा भी कहा है। 'जिसमें स्पर्श, रस, गन्ध एवं वर्ण - ये विशेष गुण पाये जाते हैं; उसे मूर्तिक कहते हैं। अतः पुद्गल रूपी अर्थात् मूर्तिक है' तथा पुद्गल के सम्बन्ध में आचार्य अकलंकदेव ने अन्य प्रकार से एवं आकर्षकरूप में कथन किया है -

“जैसे 'भा' को करनेवाला 'भास्कर' कहलाता है, उसी तरह जो भेद, संघात और भेद-संघात से पूरण और गलन को प्राप्त हों, वे पुद्गल कहलाते हैं। परमाणुओं में भी शक्ति की अपेक्षा पूरण और गलन होता है तथा प्रतिक्षण अगुरुलघुगुणकृत गुण-परिणमन, गुण-वृद्धि और गुण-

हानि होती रहती है; अतः उनमें भी पूरण और गलन व्यवहार मानने में कोई बाधा नहीं है। अथवा पुरुष अर्थात् जीव, जिनको शरीर, आहार, विषय और इन्द्रिय-उपकरण आदि के रूप में निगलें या ग्रहण करें; वे पुद्गल हैं। परमाणु भी स्कन्ध दशा में जीवों के द्वारा निगले ही जाते हैं।”  
पुद्गल से सम्बन्धित अन्य महत्त्वपूर्ण विषय -

१. वास्तव में परमाणु ही पुद्गलद्रव्य है।

२. मात्र पुद्गल ही मूर्तिक द्रव्य है।

३. पुद्गलद्रव्य अनन्तानन्त एवं क्रियावान हैं।

४. पुद्गल में स्वभाव एवं विभाव ये दोनों पर्यायें होती हैं।

५. जल भी पुद्गल का विकार होने से पुद्गलात्मक है, इसलिए स्पर्शादि सर्व गुण जल में हैं। जल ही जिनका शरीर है, वे जलकायिक जीव हैं; यह तो सबको मान्य ही है।

६. इसी प्रकार हवा, अग्नि, पृथ्वी, वनस्पति आदि भी पौद्गलिक हैं। वायु, वायुकायिक जीवों का शरीर है तथा अग्नि, पृथ्वी, वनस्पति आदि भी उन-उन जीवों के शरीर हैं।

६३. प्रश्न - स्पर्शादि गुणों की कितनी और कौनसी पर्यायें हैं?

उत्तर - स्पर्शादि गुणों की कुल २० प्रकार की पर्यायें हैं; वे निम्न प्रकार हैं -

स्पर्श गुण की आठ पर्यायें - १. स्निग्ध, २. रूक्ष, ३. शीत, ४. उष्ण, ५. हलका, ६. भारी, ७. मृदु और ८. कठोर।

रस गुण की पाँच पर्यायें - ९. खट्टा, १०. मीठा, ११. कडुवा, १२. कषायला और १३. चरपरा।

गन्ध गुण की दो पर्यायें - १४. सुगन्ध और १५. दुर्गन्ध।

वर्ण गुण की पाँच पर्यायें - १६. काला, १७. नीला, १८. पीला, १९. लाल और २०. सफेद।



६४. प्रश्न - मात्र एक पुद्गल परमाणु में स्पर्शादि गुणों की कितनी और कौनसी पर्यायें होती हैं?

उत्तर - आचार्यश्री कुन्दकुन्द ने पंचास्तिकाय ग्रन्थ की गाथा ८१ में इसका सामान्य ज्ञान कराया है। आचार्यश्री अमृतचन्द्र ने इसी गाथा की टीका में इसका स्पष्ट खुलासा किया है।

“सर्वत्र परमाणु में स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण सहभावी गुण होते हैं और वे गुण, क्रमवर्ती निज पर्यायों सहित वर्तते हैं। वह इसप्रकार - १. पाँच रसपर्यायों में से एक समय में कोई एक रसपर्यायसहित रस वर्तता है। २. पाँच वर्णपर्यायों में से एक समय में किसी एक वर्णपर्यायसहित वर्ण वर्तता है। ३. दो गन्धपर्यायों में से एक समय में किसी एक गन्धपर्याय सहित गन्ध वर्तता है।

४. शीत-स्निग्ध, शीत-रूक्ष, उष्ण-स्निग्ध और उष्ण-रूक्ष - इन चार स्पर्शपर्यायों के युगलों में से एक समय में किसी एक युगलसहित स्पर्श वर्तता है।”

इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि स्पर्शादि की २० पर्यायें पुद्गल में रहती हैं; तथापि हल्का-भारी, कोमल-कठोर - ये स्पर्श गुण की चार पर्यायें मात्र स्कन्धरूप पुद्गल में ही पायी जाती हैं; ऐसा समझना चाहिए।

६५. प्रश्न - पुद्गल को जानने से हमें क्या लाभ होते हैं?

उत्तर - १. पुद्गल के सम्बन्ध में जो अज्ञान था, उसका नाश होकर उसका ज्ञान होता है - यह प्रथम लाभ है।

२. स्पर्शादि की पर्यायें, शरीर में होने से अपना यह शरीर, पुद्गलमय है - ऐसी जानकारी हो जाती है। इस कारण स्वशरीर के प्रति आसक्ति का परिणाम शिथिल हो जाता है।

३. स्त्री, पुत्र, मित्र, परिवार आदि का शरीर भी पुद्गलमय नाशवान है - ऐसा जानने से वैराग्यभाव में वृद्धि होती है।

४. ‘मैं चेतनरूप जीव हूँ और शरीर नाशवान है’ - ऐसा जानकर भेदज्ञान का भाव उदित होता है।

५. शरीर, पूरण (पुष्ट होना) और गलन (नष्ट होना) रूप है - ऐसा पक्का निर्णय होता है; इससे वास्तविक तत्त्व अर्थात् आत्मतत्त्व की महिमा आती है और शरीर के प्रति उपेक्षाभाव व्यक्त होता है।

६. स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण एवं शब्द - ये सब ज्ञेय पदार्थ स्पर्शन आदि इन्द्रिय के विषय हैं - ऐसा ज्ञान होने से स्पर्शनेन्द्रिय आदि से सम्बन्धित इन्द्रियज्ञान मात्र पुद्गल को जानता है; इसलिए इन्द्रियाँ आत्मज्ञान के लिए अनुपयोगी हैं - ऐसी पक्की श्रद्धा होती है।

७. पुद्गल शब्द, पुद् और गल - इन दो शब्दों से मिलकर बना है। ‘पुद्’ का अर्थ ‘जुड़ना’ और ‘गल’ का अर्थ ‘बिखरना’ है। पुद्गल-स्कन्धों में हमेशा जुड़ना और बिखरना हमें दिखाई देता है, वह पुद्गल का स्वतःसिद्ध स्वभाव है; उसमें ‘मैं कुछ नहीं कर सकता हूँ’ - ऐसा बोध होने से पुद्गल में कुछ फेरफार करूँ - ऐसे कर्तापने का भ्रम नष्ट हो जाता है।

६६. प्रश्न - पुद्गल के कितने भेद हैं?

उत्तर - पुद्गल के दो भेद हैं - १. परमाणु और २. स्कन्ध।

६७. प्रश्न - परमाणु किसे कहते हैं?

उत्तर - जिसका दूसरा टुकड़ा अर्थात् विभाग नहीं हो सकता - ऐसे सबसे सूक्ष्म (छोटे) पुद्गल को परमाणु अथवा अणु कहते हैं।

६८. प्रश्न - अणुबम का इन परमाणुओं से कोई सम्बन्ध है क्या?

उत्तर - नहीं, अणुबम जिनसे बना है; वे पुद्गल न अणु हैं और न परमाणु। जिनेन्द्रकथित अणु-परमाणु तो अत्यन्त सूक्ष्म हैं। वैज्ञानिकों को इस अणु-परमाणु का कुछ पता ही नहीं है। वे जिनको अणु मानते हैं, वे तो अनन्त परमाणुओं के पिण्डरूप स्कन्ध हैं।

६९. प्रश्न - परमाणु के भी कुछ भेद हैं क्या?

उत्तर - परमाणु के भेद सम्बन्धी कथन आचार्य कुन्दकुन्द ने नियमसार

गाथा २५ में किया है; टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव ने भी थोड़ा विस्तार किया है - 'परमाणु दो प्रकार का होता है - १. कारणपरमाणु २. कार्यपरमाणु।' जबकि इसकी टीका में और दो भेद किये गये हैं - ३. जघन्य परमाणु और ४. उत्कृष्ट परमाणु।

७०. प्रश्न - परमाणु सम्बन्धी विशेष जानकारी के लिए आगम में समागत सन्दर्भ क्या-क्या हैं?

उत्तर - सर्वार्थसिद्धि में अध्याय ५ के सूत्र २५ की टीका में आचार्य पूज्यपाद ने कहा है -

१. "एक प्रदेश में होनेवाले स्पर्शादि पर्याय को उत्पन्न करने की सामर्थ्य- रूप से जो 'अण्यन्ते' अर्थात् कहे जाते हैं, वे अणु कहलाते हैं।

तात्पर्य यह है कि अणु एकप्रदेशी होने से सबसे छोटा है, इसलिए वह अणु कहलाता है। यह इतना सूक्ष्म होता है कि जिसका वही आदि है, वही मध्य है और वही अन्त है। कहा भी है ह

२. जिसका आदि, मध्य और अन्त एक है तथा जिसे इन्द्रियाँ नहीं ग्रहण कर सकतीं - ऐसा जो विभागरहित द्रव्य है, उसे परमाणु समझो।

आचार्य कुन्दकुन्द ने नियमसार गाथा २६ में कहा है -

३. "जो (पृथ्वी, जल, तेज और वायु - इन) चार धातुओं का हेतु है, उसे कारणपरमाणु जानना चाहिए तथा स्कन्धों के अवसान को (पृथक् हुए अविभागी अन्तिम अंश को) कार्यपरमाणु जानना चाहिए।"

आचार्य कुन्दकुन्द ने ही पंचास्तिकाय गाथा ७६ में कहा है -

४. "बादर और सूक्ष्मरूप से परिणत स्कन्धों को 'पुद्गल' - ऐसा व्यवहार है; वे छह प्रकार के हैं, जिनसे तीन लोक निष्पन्न है।"

५. इसी ग्रन्थ की गाथा ७५ में 'अविभागी (जिसका दूसरा भाग नहीं होता) पुद्गल को परमाणु कहा है।'

आचार्य जिनसेन ने हरिवंशपुराण, सर्ग ७, श्लोक ३२ में कहा है -

६. "जो आदि, मध्य और अन्त से रहित है, निर्विभाग है, अतीन्द्रिय है, वह मूर्त होने पर भी अप्रदेश - द्वितीयादिक प्रदेशों से रहित है, उसे परमाणु कहते हैं। वह परमाणु, एक काल में एक रस, एक वर्ण, एक गन्ध और परस्पर में बाधा नहीं करने वाले दो स्पर्शों को धारण करता है, अभेद्य है, शब्द का कारण है और स्वयं शब्द से रहित है।"

आकाश के एक प्रदेश में एक परमाणु व्यापता है अथवा एक परमाणु से व्याप्त आकाश के विभाग को एक प्रदेश कहते हैं।

आकाश के एक प्रदेश में मात्र एक परमाणु ही स्थान/जगह प्राप्त करता है - ऐसा नहीं। एक प्रदेश में दो परमाणु, तीन, चार, पाँच, संख्यात, असंख्यात, अनन्त परमाणु भी स्थान प्राप्त कर सकते हैं।

इसी तरह एक पुद्गल परमाणु में भी अन्य अनेक, असंख्यात, अनन्त परमाणु को भी जगह देने की सामर्थ्य होती है; इसलिए पुद्गल के प्रदेश संख्यात, असंख्यात तथा अनन्त भी कहे जाते हैं।

७१. प्रश्न - स्कन्ध किसे कहते हैं?

उत्तर - दो या दो से अधिक परमाणुओं के बन्ध को स्कन्ध कहते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्दकृत पंचास्तिकाय ग्रन्थ की गाथा ७५ की टीका में अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है - १. 'अनन्तानन्त पुद्गल परमाणुओं से निर्मित होने पर भी जो एक हो, वह 'स्कन्ध' नाम की पर्याय है।'

आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि शास्त्र में कहा है - २. "जिनमें स्थूल रीति से पकड़ना, रखना आदि व्यापर का सम्बन्ध अर्थात् संघटना होती है, वे स्कन्ध कहे जाते हैं।"

तत्त्वार्थसूत्र के पाँचवें अध्याय के २६वें सूत्र में आचार्य उमास्वामी ने कहा है - ३. "भेद, संघात तथा भेद और संघात ह इन दोनों से स्कन्ध उत्पन्न होते हैं।"

परमाणुओं में स्वाभाविकरूप से उनके स्निग्ध व रूक्ष गुणों में

हानि-वृद्धि होती रहती है। विशेष अनुपातवाले गुणों को प्राप्त होने पर वे परस्पर में बँध जाते हैं, जिसके कारण सूक्ष्मतम से स्थूलतम तक अनेक प्रकार के स्कन्ध उत्पन्न हो जाते हैं।

पृथ्वी, जल, प्रकाश, छाया आदि सभी पुद्गल स्कन्ध हैं। लोक के सर्व द्वीप, चन्द्र, सूर्य, स्वर्ग-नरक, तीनलोक की अकृत्रिम रचनाएँ आदि सभी महान पुद्गल स्कन्ध, एक महास्कन्ध के अन्तर्गत हैं; क्योंकि पृथक्-पृथक् रहते हुए भी ये सभी मध्यवर्ती सूक्ष्म स्कन्ध के द्वारा परस्पर में बँधकर एक हैं।

स्कन्ध के छह भेद (उदाहरण के साथ) निम्न प्रकार हैं -

१. स्थूल-स्थूल स्कन्ध - भूमि, पर्वत, काष्ठ, पाषाण आदि।
२. स्थूल स्कन्ध - घी, तेल, दूध, जल आदि।
३. स्थूल-सूक्ष्म स्कन्ध - छाया, आतप चाँदनी, अन्धकार आदि।
४. सूक्ष्म-स्थूल स्कन्ध - आँख से न दिखनेवाले और चार इन्द्रियों से जानने में आने योग्य - स्पर्श, रस, गन्ध, शब्द।
५. सूक्ष्म स्कन्ध - इन्द्रियज्ञान के अगोचर कर्मणवर्णारूप स्कन्ध।
६. सूक्ष्म-सूक्ष्म स्कन्ध - कर्मणवर्णणा से भी सूक्ष्म-द्व्यणुक आदि छोटे-छोटे स्कन्ध।

### धर्मद्रव्य का सामान्य स्वरूप

७२. प्रश्न - धर्मद्रव्य किसे कहते हैं?

उत्तर - स्वयं गमन करते हुए जीवों और पुद्गलों को गमन करने में जो निमित्त हो, उसे धर्मद्रव्य कहते हैं। जैसे - गमन करती हुई मछली को गमन करने में पानी निमित्त होता है।

७३. प्रश्न - धर्मद्रव्य के उपर्युक्त कथन के लिए कुछ शास्त्र का आधार भी है क्या?

उत्तर - क्यों नहीं, अनेक शास्त्रों का समाधानकारक आधार है।

जैसे - सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ के पाँचवें अध्याय के सूत्र १७ की टीका में आचार्य पूज्यपाद कहते हैं -

७४. प्रश्न - १. धर्म और अधर्म दोनों द्रव्य तुल्य बलवान हैं, अतः गति से स्थिति का एवं स्थिति से गति का प्रतिबन्ध होना चाहिए।

उत्तर - नहीं; क्योंकि ये (धर्म-अधर्मद्रव्य) दोनों अप्रेरक हैं।

२. जिसप्रकार जगत् में पानी मछलियों को गमन में अनुग्रह करता है, उसीप्रकार धर्मद्रव्य, जीव-पुद्गलों को गमन में अनुग्रह करता है (निमित्तभूत होता है) - ऐसा जानना चाहिए।

७५. प्रश्न - धर्मद्रव्य को जानने से क्या लाभ है?

उत्तर - १. अनेक स्थानों से मैंने अनेक पदार्थों को मँगवाया है, इसमें मैं मँगवा सकता हूँ - ऐसा समझना असत्य है, यह निश्चित होता है; क्योंकि किसी भी द्रव्य का गमन/स्थानान्तर, उस द्रव्य की क्रियावती शक्ति (स्थानान्तर करनेरूप शक्ति) से होता है और उसमें धर्मद्रव्य ही निमित्त है। मैं तो वास्तव में निमित्त भी नहीं हूँ - ऐसा पता चलता है।

२. मैं अपने हाथ-पैरों को चला सकता हूँ - यह भाव भ्रमरूप सिद्ध होता है। लकवा लगने पर तो सबको ऐसा पक्का निर्णय होता ही है। हाथ-पैरों में हलन-चलन करने की अपनी स्वयं की शक्ति रहती है। चलने में धर्मद्रव्य निमित्त रहता है तथा जीव की इच्छा तो गौण निमित्त है।

३. युवा गेंद को अच्छी तरह उछाल सकता है - यह निमित्त की अपेक्षा सत्य होने पर भी उस गेंद की अपनी क्रियावती शक्ति से यह कार्य हुआ है तथा मुख्य निमित्त, धर्मद्रव्य है और गौण निमित्त, युवा पुरुष है।

४. तेज हवा के (तूफान के) कारण अनेक पेड़ गिर गये, बिजली के खम्भे ढह गये, फसल नष्ट हो गई, मकान के टीन उड़ गये - यह सब कथन, बाह्य निमित्त-सापेक्ष हैं; वास्तविक मूल कारण तो स्वयं पेड़, खम्भे, फसल और टीन में ही हैं तथा मुख्य निमित्त, धर्मद्रव्य है और तूफान भी एक बाह्य निमित्त है।

५. धर्मद्रव्य के सम्बन्ध में जो अज्ञान था, उसका नाश होता है और यथार्थ स्वरूप का ज्ञान होता है।

६. अज्ञानियों के कर्ताप्रधान कथन की सहजरूप से उपेक्षा हो जाती है।

७६. प्रश्न – धर्मद्रव्य को स्वीकार न करने से क्या हानि होती है?

उत्तर – धर्मद्रव्य को स्वीकार न करने से जीव-पुद्गल के गमन कराने के विकल्प से तथा तत्सम्बन्धी अज्ञान के कारण अज्ञानी जीव स्वयं धर्मद्रव्यरूप बनने का मिथ्या अभिमान करता है, जिससे वह दुःखी होता है।

### अधर्मद्रव्य का सामान्य स्वरूप

७७. प्रश्न – अधर्मद्रव्य किसे कहते हैं?

उत्तर – स्वयं गतिपूर्वक स्थितिरूप परिणमन करनेवाले जीवों और पुद्गलों को ठहरने में जो निमित्त हो, उसे अधर्मद्रव्य कहते हैं। जैसे – चलते हुए पथिक को रुकने में वृक्ष की छाया निमित्त होती है।

धर्मद्रव्य के समान अधर्मद्रव्य के सम्बन्ध में भी आगम में अनेक सन्दर्भ हैं –

१. भगवती आराधना, श्लोक २१३९ में कहा है – “अधर्मद्रव्य के निमित्त से सिद्ध भगवान लोक-शिखर पर अनन्तकाल तक निश्चल ठहरते हैं।”

२. आचार्य कुन्दकुन्द, पंचास्तिकाय ग्रन्थ की गाथा ८६ में कहते हैं – “जिसप्रकार धर्मद्रव्य है, उसीप्रकार अधर्म नाम का द्रव्य भी जानो; परन्तु वह (गतिक्रियापूर्वक) स्थितिक्रियायुक्त को पृथ्वी की भाँति कारणभूत है अर्थात् स्थितिक्रियापरिणत जीव-पुद्गलों को निमित्तभूत है।”

३. श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेव ने द्रव्यसंग्रह की गाथा १८ में कहा है – “स्थिर हुए पुद्गल और जीवद्रव्यों को स्थिर रहने में सहकारी अधर्मद्रव्य है। जैसे – मुसाफिरों को छाया, किन्तु वह अधर्मद्रव्य चलते हुए जीव और पुद्गल, द्रव्यों को कदापि रोक नहीं सकता।”

७८. प्रश्न – अधर्मद्रव्य को जानने से हमें क्या लाभ है?

उत्तर – जैसे – गिरते हुए पेड़ को मैंने स्थिर रखा, गड्ढे में गिरते हुए आदमी को मैंने गिरने से बचाया, इत्यादि प्रकार के अज्ञान का अभाव हो जाता है; क्योंकि स्थिर होनेवाले पदार्थ अपने कारण से स्थिर होते हैं, उनके स्थिर होने में अधर्मद्रव्य प्रधान निमित्त है, स्थिर करने की चेष्टा करनेवाले आदमी का राग, चेष्टा आदि भी अनेक अन्य निमित्तों में एक निमित्त है – ऐसा यथार्थ ज्ञान होता है।

यहाँ धर्मद्रव्य के लाभ के समान तर्क के आधार से अधर्मद्रव्य के भी अनेक लाभ को जान लेना चाहिए।

७९. प्रश्न – अधर्मद्रव्य की परिभाषा में से ‘स्वयं गतिपूर्वक स्थितिरूप परिणमन करनेवाले’ वाक्यांश को निकाल दिया जाए तो क्या आपत्ति है?

उत्तर – स्वयं गतिपूर्वक स्थितिरूप परिणमन करनेवाले जीवों और पुद्गलों को ही अधर्मद्रव्य स्थिति में निमित्त है – ऐसी विशेष मर्यादा न रहने से सदैव स्थिर रहनेवाले धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाश द्रव्य एवं कालद्रव्य को भी स्थिति में अधर्मद्रव्य का निमित्तपना मानने का प्रसंग उपस्थित हो जाएगा, जो तर्क, युक्ति और आगम को सम्मत नहीं है।

८०. प्रश्न – अधर्मद्रव्य को न जानने से क्या हानि होती है?

उत्तर – अधर्मद्रव्य को न जानने के कारण अज्ञानी जीव, स्वयं गतिपूर्वक स्थितिरूप परिणमन करनेवाले जीव-पुद्गलों को ठहराने में निमित्त होने का विकल्प करता हुआ मिथ्याभिमान करता है तथा अपने को स्वयं अधर्मद्रव्य जैसा ही मान लेता है अर्थात् मिथ्यात्व की पुष्टि करता है और अपनी ही मिथ्या मान्यता से दुःखी रहता है।

८१. प्रश्न – धर्म-अधर्मद्रव्य की परिभाषा में मात्र जीव और पुद्गल – इन दो द्रव्यों को ही क्यों लिया है?

उत्तर – जीवादि छह द्रव्यों में मात्र जीव और पुद्गल ही गमनरूप और गमनपूर्वक स्थितिरूप परिणमन करते हैं; अतः इन दो द्रव्यों को ही लिया है।

८२. प्रश्न - धर्मद्रव्य की परिभाषा में 'स्वयं गमन करते हुए' शब्दों का प्रयोग क्यों किया है?

उत्तर - गमनरूप कार्य तो जीव और पुद्गल स्वयमेव ही करते हैं, उस समय धर्मद्रव्य मात्र उस कार्य में उदासीनरूप से निमित्त होता है, वह स्वयं गमनरूप कार्य का कर्ता नहीं - यह बताना ही आचार्यों का अभिप्राय है; अतः परिभाषा में 'स्वयं गमन करते हुए' शब्दों का प्रयोग किया है। इसी प्रकार अधर्मद्रव्य की परिभाषा में प्रयुक्त 'स्वयं गमनपूर्वक स्थिति रूप' शब्दों का अर्थ समझना चाहिए।

८३. प्रश्न - धर्म तथा अधर्मद्रव्यों की आकाश में क्या स्थिति है?

उत्तर - धर्म तथा अधर्म, दोनों द्रव्य लोकाकाश में व्यापक तथा लोकाकाश प्रमाण हैं। वे स्वतन्त्र, अरूपी और अनादि-अनन्त रहते हुए सदा शुद्ध ही रहते हैं।

८४. प्रश्न - जिनवाणी में धर्म-अधर्मद्रव्य को समझाने के लिए 'मछली को गमन करने में पानी' और 'पथिक को वृक्ष की छाया' आदि उदाहरण भी वही के वही दिये जाते हैं, इनका कथन भी बहुत ही अल्प मात्रा में है; इन्हें अधिक विस्तार से और अनेक उदाहरणों से क्यों नहीं समझाया गया है?

उत्तर - देखो! आचार्यों को तो मुख्यरूप से इस जीव को धर्म/सुख कैसे प्राप्त हो - यही समझाना है; अतः पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और कालद्रव्य का ज्ञान भी उतना अनिवार्य नहीं है; जितना जीवद्रव्य का ज्ञान आवश्यक है।

जीव को समझने के लिए ही जितना पुद्गलादि द्रव्यों का ज्ञान अनिवार्य है, उतना ही अति आवश्यक विषय समझाने में ग्रन्थकर्ता आचार्यों को रस है। जीवों को भेदज्ञान कराना मुख्य प्रयोजन है। इसकारण धर्मादिक द्रव्यों का ज्ञान भी अति संक्षेप से कराते हैं।

पुद्गल की भी संक्षेप में ही जानकारी देते हैं। जैसे, जीव से सम्बन्धित आहारवर्गणा आदि पाँच वर्गणाओं का कुछ ज्ञान कराते हैं।

जबकि वर्गणाएँ तो तेईस हैं, उन सबका अति संक्षेप में ही जिनवाणी में नाममात्र कथन किया गया है।

### आकाशद्रव्य का सामान्य स्वरूप

८५. प्रश्न - आकाशद्रव्य किसे कहते हैं?

उत्तर - जो जीवादिक सभी द्रव्यों को रहने के लिए स्थान/जगह देता है; उसे आकाशद्रव्य कहते हैं। आकाशद्रव्य सर्वव्यापक है, सर्वत्र है। आकाशद्रव्य की आगम सम्मत अन्य परिभाषाएँ -

आचार्यश्री उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र के ५वें अध्याय के सूत्र ४, ६, ७, १८वें सूत्र में निम्न प्रकार आकाश का ज्ञान कराया है -

१. "आकाशद्रव्य नित्य, अवस्थित और अरूपी है तथा एक, अखण्ड निष्क्रिय द्रव्य है और अवगाह देना इसका उपकार है।"

पंचास्तिकाय गाथा ९० में आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है -

२. "जीवों को और पुद्गलों को वैसे ही शेष समस्त द्रव्यों को जो सम्पूर्ण अवकाश देता है, वह आकाशद्रव्य है।"

धवला, पुस्तक ४, पृष्ठ ७ पर आया है -

३. "आकाश सप्रदेशी है और वह ऊपर, नीचे और तिरछे सर्वत्र फैला हुआ है; उसे ही क्षेत्र या लोक जानना चाहिए। जिनेन्द्र भगवान ने उसे अनन्त कहा है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने बारस अणुवेक्खा के गाथा ३९ में कहा है -

४. "जीवादि छह पदार्थों का जो समूह है, उसे लोक कहते हैं और वह अधोलोक, ऊर्ध्वलोक व मध्यलोक के भेद से तीन प्रकार का है।"

सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ में पृष्ठ २१० पर आया है -

५. "जहाँ धर्मादि द्रव्य विलोके जाते हैं, उसे लोक कहते हैं; उससे बाहर सर्वत्र अनन्त अलोकाकाश है।"

८६. "प्रश्न - लोक किसे कहते हैं?"

उत्तर - जिसमें जीवादि पदार्थ देखे जाते हैं अर्थात् उपलब्ध होते हैं, उसे लोक कहते हैं।

### ८७. प्रश्न - आकाश के कितने भेद हैं?

उत्तर - यद्यपि आकाश एक ही अखण्ड द्रव्य है; तथापि छह द्रव्यों की उपस्थिति व अनुपस्थिति (आकाश की उपस्थिति) के कारण उसके लोकाकाश व अलोकाकाश - ये दो भेद होते हैं।

### आकाश से सम्बन्धित कुछ महत्त्वपूर्ण विषय

१. खाली जगह को आकाश कहते हैं।
२. आकाश को एक, सर्वव्यापक, अखण्ड, अमूर्तद्रव्य स्वीकार किया गया है।
३. आकाश, अपने अन्दर सर्व द्रव्यों को समाने (अवगाहन) की शक्ति रखता है।
४. यद्यपि आकाश अखण्ड द्रव्य है, परन्तु इसकी विशालता का ज्ञान कराने के लिए इसमें प्रदेशरूप खण्डों की कल्पना की जाती है।
५. आकाश स्वयं तो अनन्त है; परन्तु इसके मध्यवर्ती कुछ भाग मात्र में ही अन्य द्रव्य अवस्थित हैं; इस भाग का नाम ही लोक या लोकाकाश है और उससे बाहर शेष सर्व आकाश का नाम अलोक या अलोकाकाश है।
६. आकाश की अवगाहना शक्ति की विचित्रता के कारण छोटे से लोक में अथवा इसके एक प्रदेश पर भी अनन्तानन्त द्रव्य स्थित हैं।

### ८८. प्रश्न - आकाशद्रव्य को जानने से हमें क्या लाभ है?

उत्तर - १. आकाशविषयक अज्ञान का नाश होकर ज्ञान की प्राप्ति होती है, यह प्रमुख लाभ है।

२. आकाश सम्बन्धी अन्य दर्शनों की विपरीत मान्यता का परिहार होता है।
३. रेल अथवा बस में या अन्य प्रसंग में भी मनुष्य, इष्ट व्यक्तियों एवं मित्रों को बैठने के लिए स्थान देकर मैंने बहुत बड़ा काम किया - ऐसी मिथ्या मान्यता का पोषण करता है, परन्तु उसकी यह असत्य मान्यता नष्ट होती है क्योंकि; अवगाहन देना तो आकाशद्रव्य का काम है, उस काम को मैंने किया - ऐसा समझकर स्वयं

ज्ञाता-दृष्टा चेतनरूप जीव होते हुए भी अभिप्राय में अपने को आकाशद्रव्य मानता है, जो कि असत्य है।

४. असत्यता का परिहार होने से ज्ञान का झुकाव सत्य की ओर ढलता है और आनन्द प्राप्त होता है।
५. आकाश दशों दिशाओं में अनन्त है - ऐसा पक्का विश्वास होता है।
६. लोक के अधोलोक, मध्यलोक, ऊर्ध्वलोक - ऐसे तीन भेद हैं। इस चमत्कारी विषय का ज्ञान होने से सात्त्विक आनन्द होता है।
७. शास्त्र के अलौकिक विषयों को जानने की जिज्ञासा उत्पन्न होती है।
८. जिनधर्म की गम्भीरता को जानने से जिनेन्द्र भगवान की महिमा आती है तथा सच्चे भगवान की श्रद्धा भी दृढ़ होती है।

### ८९. प्रश्न - आकाश का भी कोई अन्य आधार होना चाहिए?

उत्तर - नहीं, वह स्वयं अपने आधार पर है। उससे अधिक प्रमाणवाले दूसरे द्रव्य का अभाव होने के कारण भी उसका आधारभूत कोई दूसरा द्रव्य नहीं हो सकता। यदि किसी दूसरे आधार की कल्पना की जाए तो उससे अनवस्था दोष का प्रसंग आएगा, परन्तु स्वयं अपना आधारभूत होने से वह दोष नहीं आ सकता है।

(सर्वार्थसिद्धि, पृष्ठ २१०)

### ९०. प्रश्न - आकाश को रहने के लिए कौन स्थान देता है?

उत्तर - आकाश से बड़ा कोई द्रव्य नहीं है; अतः आकाश ही आकाश को रहने के लिए जगह देता है अर्थात् आकाश, आकाश में ही रहता है।

९१. प्रश्न - आकाश के समान ही अन्य जीवादि द्रव्यों के रहने के सम्बन्ध में भी ऐसा ही क्यों नहीं कहते?

उत्तर - वास्तव में देखा जाए तो प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने में ही रहता है। ऐसा ही सच्चा स्वरूप है, किन्तु आकाश सबसे बड़ा द्रव्य है; अतएव आकाश ने अन्य द्रव्यों को रहने के लिए जगह दी है ऐसा व्यवहार होता है।

९२. प्रश्न - आकाशद्रव्य को नहीं मानने से क्या हानि होती है?

उत्तर - जीवादि द्रव्यों को स्थान/अवगाहन देनेवाले आकाशद्रव्य को जो नहीं मानेंगे तो लौकिक व्यवहार में यह जीव स्वयं अन्य किसी को स्वयं स्थान देने का विकल्प करता हुआ वह मिथ्यात्व का पोषण करता रहेगा और आगम अर्थात् अनन्त तीर्थकरादि ज्ञानियों का विरोध करने का महापाप होता रहेगा, मोक्षमार्ग दुर्लभ हो जाएगा तथा निगोद जाने का कार्य चलता रहेगा।

### कालद्रव्य का सामान्य स्वरूप

९३. प्रश्न - कालद्रव्य किसे कहते हैं?

उत्तर - अपनी-अपनी अवस्थारूप से स्वयं परिणामते हुए जीवादि द्रव्यों के परिणामन में जो निमित्त होता है उसे कालद्रव्य कहते हैं। जैसे, कुम्हार के चाक (चक्र) को घूमने में लोहे की कीली।

९४. प्रश्न - कालद्रव्य के कितने और कौन-कौन से भेद हैं?

उत्तर - काल के दो भेद हैं - १. निश्चयकाल और २. व्यवहारकाल। लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर स्थित कालद्रव्य या कालाणु, निश्चय काल हैं और दिन, रात, महिना आदि व्यवहारकाल हैं।

तत्त्वार्थसूत्र के पाँचवें अध्याय, सूत्र २२ की सर्वार्थसिद्धि टीका में आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं -

“१. ओदन-पाक-काल इत्यादि रूप से काल संज्ञा का अध्यारोप होता है, वह उस संज्ञा के निमित्तभूत मुख्य काल के अस्तित्व का ज्ञान कराता है; क्योंकि गौण या व्यवहार, मुख्य की अपेक्षा रखता है।

२. परत्व और अपरत्व दो प्रकार का है - क्षेत्रकृत और कालकृत। प्रकृत में कालकृत उपकार का प्रकरण है, इसलिए कालकृत परत्व और अपरत्व लिये गये हैं। ये सब वर्तनादिक उपकार, काल के अस्तित्व का ज्ञान कराते हैं।”

९५. प्रश्न - कालद्रव्य के सम्बन्ध में संक्षिप्त जानकारी दीजिए?

उत्तर - कालद्रव्य का संक्षिप्त विवरण निम्नप्रकार है -

१. कालद्रव्य असंख्यात हैं।
२. कालद्रव्य, रत्नों की राशि की तरह एक-दूसरे से पृथक् रहते हुए लोक के समस्त प्रदेशों पर अलग-अलग, एक-एक स्थित हैं।
३. प्रत्येक कालाणु जड़, एकप्रदेशी और अमूर्तिक है।
४. काल में स्पर्शगुण नहीं है; इसलिए एक-दूसरे के साथ मिलकर स्कन्धरूप नहीं होता।
५. काल में मुख्यरूप से या गौणरूप से प्रदेशसमूह की कल्पना नहीं हो सकती; इसलिए उसे अकाय भी कहते हैं।
६. वह निष्क्रिय है अर्थात् (कालद्रव्य) एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में नहीं जाता, उसका गमन नहीं होता।

९६. प्रश्न - असंख्यात कालद्रव्य मानने का क्या कारण है?

उत्तर - तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक ग्रन्थ के पाँचवें अध्याय के १७वें सूत्र की टीका में आचार्य विद्यानन्दि कहते हैं -

“कालद्रव्य अनेक हैं; क्योंकि एक ही समय में परस्पर-विरुद्ध हो रहे अनेक द्रव्यों की क्रियाओं की उत्पत्ति में निमित्तकारण हैं अर्थात् कोई रोगी हो रहा है और कोई निरोग हो रहा है।”

९७. प्रश्न - एक समयरूप व्यवहारकाल किसे कहते हैं और वह किस कारण से होता है?

उत्तर - नियमसार गाथा ३१ की टीका में श्री पद्मप्रभमलधारी मुनि महाराज ने इसप्रकार कहा है - “एक आकाशप्रदेश में कोई परमाणु स्थित हो, उसे दूसरा परमाणु मन्दगति से लांघे; उतना काल वह समयरूप व्यवहारकाल है।”

९८. प्रश्न - कालद्रव्य को जानने से हमें क्या लाभ होता है?

उत्तर - कालद्रव्य को जानने से हमें निम्न लाभ प्राप्त होते हैं -

१. कालद्रव्य के सम्बन्ध में प्रचलित अज्ञान का नाश होता है और सर्वज्ञकथित कालद्रव्य का ज्ञान होता है।

२. कालद्रव्य के कारण ही हम सुबह, दोपहर और शाम - ऐसे व्यवहारकाल को जान सकते हैं।
३. मैं छोटी उम्र का, माताजी-पिताजी बड़ी उम्र के और यह बड़ा भाई, यह छोटी बहन - यह व्यवहारकाल का उपकार है।
४. अभी पंचमकाल चल रहा है, इसके बाद छठवाँ काल आएगा; - ऐसा ज्ञान होता है।
५. भूत, भविष्य एवं वर्तमान के चौबीस तीर्थकरों का ज्ञान होता है।
६. लौकिक व्यवहार में नए-पुराने पदार्थों का ज्ञान भी हमें इसी कालद्रव्य (व्यवहारकाल) के कारण ही होता है।
७. इस दुनिया में स्थित प्रत्येक पदार्थ में जो परिवर्तन होता है, उसमें प्रमुख निमित्त कालद्रव्य ही है। मैं अथवा अन्य कोई मनुष्य, पदार्थ-परिवर्तन में मुख्य निमित्त भी नहीं हूँ - ऐसा यथार्थ ज्ञान होता है।
८. किसी भी वस्तु के परिणामन में मैं निमित्त भी नहीं हूँ तो कर्ता होने का प्रश्न ही नहीं है - ऐसे निर्णय से जीव को अकर्ता होने का सुवर्ण अवसर प्राप्त होता है। अकर्ता कहो अथवा ज्ञाता, मोक्षमार्गी बनना या सुखी होना - इन सबका एक ही अर्थ है।
९. कालद्रव्य के कारण ही यह विश्व, जीवादि छह द्रव्य, ज्ञानादि गुण, गुणों की पर्यायें - अनादि से हैं और अनन्तकाल पर्यंत नियम से होती रहेंगी ही - ऐसा बोध प्राप्त होता है।
१०. अपने दाँतों को मैंने अनेक प्रकार के मंजन के प्रयोग से मजबूत बनाकर रखा है। उस आदमी ने अपने दाँतों की ठीक व्यवस्था नहीं की, इस कारण ५० वर्ष की उम्र में ही उसके सब दाँत गिर गये; यह मान्यता योग्य नहीं है। दाँत का अपनी पात्रता/ योग्यतानुसार बने रहना अथवा गिर जाने का कार्य होता है। दाँत के स्थिर रहने में कालद्रव्य मुख्य निमित्त है। आपके मंजन का प्रयोग करना वगैरह भी दाँत मजबूत रहने में गौण निमित्त हैं।

९९. प्रश्न - भाईसाहब! परद्रव्य के परिणामन में जीव को अथवा मुझे निमित्त तो रहने दो! निमित्त का भी निषेध क्यों करते हो? इतना कठोर होना अच्छा नहीं लगता, निषेध की बात अच्छी नहीं लगती।

उत्तर - पदार्थों के प्रत्येक परिणामन में कालद्रव्य ही मुख्य निमित्त है - ऐसा अनन्त सर्वज्ञ भगवन्तों ने बताया है; तथापि आपको निमित्त होने का विकल्प नहीं छूँटता तो मत छोड़ो। अज्ञानी जीव, पर-पदार्थ के परिणामन में मैं निमित्त हूँ; ऐसा मुख से तो कहता है; तथापि अभिप्राय में अपने को उसका कर्ता मानने की मिथ्यात्वरूप तीव्र वासना रखता है।

प्रत्येक द्रव्य के परिणामन में उपादानकारण (मूलकारण) तो वह द्रव्य स्वयं है और निमित्तकारण कालद्रव्य है और अन्य बाह्य निमित्त अनेकानेक होते हैं - ऐसा वस्तुस्वरूप है।

कालद्रव्य के सम्बन्ध में पंचास्तिकाय ग्रन्थ की गाथा १००-१०२ में तथा उनकी टीकाओं में भी अच्छा विषय आया है; जिज्ञासु पाठक इन प्रकरणों को अवश्य देखें।

यद्यपि काल को निमित्त तो माना गया है, तथापि इससे उसे बाधक या साधक नहीं माना जा सकता। साधारणतया पंचमकाल को मुक्ति के लिए बाधक माना जाता है - इस सम्बन्ध में 'जिनागमसार' के पृष्ठ २८८ का प्रश्नोत्तर, विशेषतया उपयोगी जानकर यहाँ प्रकरण के अनुसार अच्छा लगा; इसलिए आगे दे रहे हैं ह

१००. "प्रश्न - 'पंचमकाल में मुक्ति नहीं होती' - शास्त्रों के इस कथन का क्या आशय है?"

उत्तर - वास्तव में कोई भी काल, मुक्ति में बाधक अथवा साधक नहीं है। शास्त्रों के उक्त कथन का आशय यह है कि भरतक्षेत्र का जीव, इस काल (पंचमकाल) में तीव्र पुरुषार्थ के अभाव में मोह-मुक्ति, जीवन-मुक्ति अथवा विदेह-मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकता; लेकिन दृष्टि-मुक्ति अवश्य प्राप्त कर सकता है। तीव्र पुरुषार्थ का अभाव, जीव का अपना दोष है; काल का नहीं।



शास्त्रों में इसी काल (पंचमकाल) में मुनि जम्बूकुमार आदि के मोक्ष जाने का उल्लेख भी है। साथ ही विदेहक्षेत्र के मुनि को, यदि कोई पूर्वभव का बैरी इस भरतक्षेत्र में अभी ले आए तो वह मुनि, उग्र पुरुषार्थ के बल से यहाँ से भी इसी पंचमकाल में मोक्ष प्राप्त कर सकता है। इससे सिद्ध होता है कि मुक्ति में दोष, क्षेत्र-काल का नहीं, बल्कि स्वयं का है।”

गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा ५७७ में आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने कहा है -

“यह व्यवहारकाल, मनुष्यक्षेत्र में ही समझना चाहिए। मनुष्यक्षेत्र के अन्दर ही ज्योतिषी देवों के विमान गमन करते हैं और इनके गमन का काल और व्यवहारकाल, दोनों समान हैं।”

हरिवंशपुराण, सर्ग ७ के श्लोक १० में कहा है - “ये कालाणु, अनन्त समयों के उत्पादक होने से अनन्त भी कहे जाते हैं।”

१०१. प्रश्न - लोक के बाहर अलोकाकाश में कालद्रव्य का अभाव होने से उसका परिणमन कैसे होता है?

उत्तर - जिसप्रकार बहुत बड़े बाँस के एक भाग को हिलाने पर पूरा बाँस हिल जाता है अथवा जैसे, स्पर्शन-इन्द्रिय या रसना-इन्द्रिय के विषय का सुखद या दुःखद अनुभव, एक अंग में करने पर समस्त शरीर में सुख या दुःख का अनुभव होता है; उसी प्रकार लोकाकाश में स्थित जो कालद्रव्य हैं, वह आकाश के एक देश में स्थित है तो भी उनके निमित्त से सर्व अलोकाकाश में परिणमन होता है; क्योंकि आकाश, एक अस्वण्ड द्रव्य है।

१०२. प्रश्न - कालद्रव्य को न मानने से क्या हानि होती है?

उत्तर - कालद्रव्य को न मानने से यह अज्ञानी जीव, स्वयं परिणमन करते हुए जीवादि द्रव्यों के परिणमन को स्वयं परिणमन कराने का मिथ्याभाव रखता है। मानो वह स्वयं कालद्रव्य होता हुआ मिथ्यात्व का पोषण करता है; उस कारण उससे मोक्षमार्ग दूर चला जाता है।

१०३. प्रश्न - छह द्रव्यों का विभाजन किस-किस प्रकार से हो सकता है?

उत्तर - १. चेतन-अचेतन की अपेक्षा २. मूर्त-अमूर्त की अपेक्षा, ३. क्रियावती-भाववतीशक्ति की अपेक्षा तथा ४. प्रदेशों की अपेक्षा।

इन चारों का खुलासा करते हैं -

चेतन-अचेतन (जीव-अजीव) की अपेक्षा छह द्रव्यों का विभाजन-

१. आचार्य कुन्दकुन्द, प्रवचनसार ग्रन्थ की गाथा १२७ में कहते हैं - “द्रव्य, जीव और अजीव हैं; उनमें जो चेतनामय तथा उपयोगमय हैं, वे जीव हैं और पुद्गलद्रव्यादिक अचेतन द्रव्य, अजीव हैं।”

२. आचार्य कुन्दकुन्द ही पंचास्तिकाय शास्त्र की गाथा १२४ में बतलाते हैं - “आकाश, काल, पुद्गल, धर्म और अधर्म द्रव्यों में जीव के गुण नहीं हैं; क्योंकि उन्हें अचेतनपना कहा है तथा जीव में चेतनता कही है।”

३. पाँचों परमागम एवं अन्य ग्रन्थों में प्राप्त अलिंगग्रहण की गाथा में ‘जीव को चेतनागुणवाला’ कहा है।

४. श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेव विरचित द्रव्यसंग्रह शास्त्र के मंगलाचरण में ही कहा है - “देवेन्द्रों के द्वारा वन्दित जिनवरवृषभ भगवान ने जीव और अजीव द्रव्यों का वर्णन किया है।”

५. आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ के ५वें अध्याय के सूत्र १ से लेकर सूत्र ५ तक यही सिद्ध किया है - “छह द्रव्यों में पाँच द्रव्य अचेतन हैं और एक जीवद्रव्य चेतन है।”

मूर्त-अमूर्त की अपेक्षा छह द्रव्यों का विभाजन -

१. आचार्य कुन्दकुन्द ने पंचास्तिकाय गाथा ९७ में कहा है - “आकाश, काल, जीव, धर्म और अधर्म द्रव्य अमूर्त हैं और पुद्गलद्रव्य मूर्त है; उनमें जीव वास्तव में चेतन है।”

२. आचार्यश्री उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र के पाँचवें अध्याय के पाँचवें सूत्र

में - 'रूपिणः पुद्गलाः' इस सूत्र के द्वारा 'पुद्गल मूर्तिक है' - ऐसा कहा है।

३. आचार्यश्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने गोम्मटसार जीवकाण्ड की गाथा ५६३- ५६४ में कहा है - "द्रव्य के सामान्यतया दो भेद हैं - एक जीवद्रव्य, दूसरा अजीवद्रव्य; इनमें भी प्रत्येक के दो-दो भेद हैं - एक रूपी दूसरा अरूपी।

जीवों में जितने संसारी जीव हैं, वे सब रूपी हैं; क्योंकि उनका कर्म-पुद्गल के साथ एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध है। तथा जो जीव, कर्म से रहित होकर सिद्ध अवस्था को प्राप्त हो चुके हैं, वे सब अरूपी हैं; क्योंकि उनसे कर्मपुद्गल का सम्बन्ध सर्वथा छूट गया है।

अजीवद्रव्यों के पाँच भेद हैं - पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इनमें एक पुद्गलद्रव्य रूपी है और शेष धर्म, अधर्म, आकाश, काल - ये चार द्रव्य अरूपी हैं।"

क्रियावती एवं भाववतीशक्ति की अपेक्षा छह द्रव्यों का विभाजन -

क्रियावती शक्ति - एक क्षेत्र से (आकाश के एक प्रदेश से) दूसरे क्षेत्र में (आकाश के दूसरे प्रदेश में) गमन करने की सामर्थ्य को क्रियावती शक्ति कहते हैं। यह शक्ति, मात्र जीव एवं पुद्गलद्रव्य में है अर्थात् धर्म, अधर्म, आकाश और कालद्रव्य में यह क्रियावती शक्ति नहीं होती है।

इस सम्बन्ध में तत्त्वार्थसूत्र के अध्याय ५, सूत्र ७ एवं उसकी टीकाओं में आचार्य पूज्यपाद एवं आचार्य अकलंकदेव विस्तार से लिखते हैं -

निष्क्रियाणि च ॥७॥

अर्थात् धर्मादिक चार द्रव्य निष्क्रिय हैं।

"अन्तरंग और बहिरंग निमित्त से उत्पन्न होनेवाली जो पर्याय, द्रव्य को एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में प्राप्त कराने की कारण है, वह क्रिया कहलाती है और जो इसप्रकार की क्रिया से रहित है, वे निष्क्रिय कहलाते हैं।

१०४. प्रश्न - यदि धर्मादिक द्रव्य निष्क्रिय हैं तो उनका उत्पाद नहीं बन सकता; क्योंकि घटादि का क्रियापूर्वक ही उत्पाद देखा जाता है और उत्पाद नहीं बनने से उनका व्यय भी नहीं बनता; अतः सब द्रव्य, उत्पाद आदि तीन रूप होते हैं - इस कल्पना का व्याघात हो जाता है?

उत्तर - नहीं, क्योंकि इनमें भी उत्पाद आदि तीन, अन्य प्रकार से बन जाते हैं। यद्यपि इन धर्मादिक द्रव्यों में क्रियानिमित्तक उत्पाद नहीं है तो भी इनमें अन्य प्रकार से उत्पाद माना गया है। उत्पाद-व्यय दो प्रकार का होता है - स्वनिमित्तक और परप्रत्यय के निमित्त से।

स्वनिमित्तक के अन्तर्गत प्रत्येक द्रव्य में आगमप्रमाण से अनन्त अगुरुलघुगुण (शक्त्यंश अर्थात् अविभाग-प्रतिच्छेद) स्वीकार किये गये हैं, जिनका षट्स्थानपतित वृद्धि और हानि के द्वारा वर्तन होता रहता है; अतः इनका उत्पाद और व्यय स्वभाव से होता है।

इसी प्रकार परप्रत्यय के निमित्त से भी उत्पाद और व्यय होता है। जैसे - ये धर्म-अधर्म और आकाशद्रव्य, क्रम से अश्व आदि की गति, स्थिति और अवगाहन में कारण हैं। चूँकि उनकी गति आदि में क्षण-क्षण में अन्तर पड़ता है, इसीलिए इनके कारण भी भिन्न-भिन्न होने चाहिए। इस प्रकार इन धर्मादि द्रव्यों में भी परप्रत्यय की अपेक्षा उत्पाद और व्यय का व्यवहार किया जाता है।

१०५. प्रश्न - यदि धर्मादिक द्रव्य निष्क्रिय हैं तो ये जीव और पुद्गलों की गति आदिक के कारण नहीं हो सकते; क्योंकि जलादि पदार्थ क्रियावान् होकर ही मछली आदि की गति आदि में निमित्त देखे जाते हैं, अन्यथा नहीं?

उत्तर - यह कोई दोष नहीं है; क्योंकि चक्षु-इन्द्रिय के समान ये बलाधान में निमित्तमात्र है; जैसे - चक्षु-इन्द्रिय, रूप को ग्रहण करने में निमित्तमात्र है; इसलिए जिसका मन विक्षिप्त है, उसके चक्षु-इन्द्रिय के रहते हुए भी रूप का ग्रहण नहीं होता; उसी प्रकार इस प्रकरण में समझ

लेना चाहिए। इसप्रकार अधिकार प्राप्त धर्म, अधर्म और आकाश (एवं काल) द्रव्य को निष्क्रिय मान लेने पर जीव और पुद्गल सक्रिय हैं; यह अपने-आप प्रकरण से सिद्ध हो जाता है।”

भावशक्ति - जीवादि द्रव्य में प्रतिसमय परिणमनरूप कार्य होता है, उसे भाववती शक्ति कहते हैं। इस शक्ति का विशेष स्पष्टीकरण पंचाध्यायी, अध्याय दूसरा, श्लोक २५-२७ के अर्थ एवं भावार्थ में आया है, वह इसप्रकार है -

“भाव और क्रियावान् पदार्थों के नाम - जीव और पुद्गल - ये दोनों द्रव्य, भाव और क्रिया दोनों से युक्त हैं तथा सभी छह द्रव्य, भाववतीशक्ति विशेष से युक्त हैं।

क्रिया और भाव का लक्षण - जो प्रदेशों के हलन-चलनरूप परिस्पन्द होता है, वह क्रिया कहलाती है और प्रत्येक वस्तु में होनेवाले प्रवाहरूप परिणमन को भाव कहते हैं। यह बात असम्भव भी नहीं है; क्योंकि सभी पदार्थ, प्रति समय परिणमन करते रहते हैं; उनमें से कितने ही द्रव्य कदाचित् प्रदेश-चलनात्मक भी देखे जाते हैं।

यहाँपर पदार्थों में दो प्रकार की योग्यता का विचार किया गया है - एक क्रियारूप और दूसरी भावरूप।

प्रदेश-चलनात्मक योग्यता का नाम क्रिया है और परिणमनशील योग्यता का नाम भाव है - इन दोनों में यह अन्तर है कि क्रिया में प्रदेशों का परिस्पन्द देखा जाता है, पर भाव में पर्यायान्तररूप होना ही विवक्षित है।

क्रियारूप योग्यता तो केवल जीव और पुद्गल - इन दो द्रव्यों में ही होती है; पर दूसरी प्रकार की योग्यता छहों द्रव्यों में पायी जाती है। इसी कारण तत्त्वार्थसूत्र में छहों द्रव्यों को उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य स्वभाव-वाला मान करके भी धर्म, अधर्म, आकाश और काल - इन चार द्रव्यों को निष्क्रिय माना गया है।

इसप्रकार जीव और पुद्गल, ये दोनों प्रकार की योग्यतावाले तथा शेष चार द्रव्य, केवल भावरूप योग्यतावाले सिद्ध होते हैं।

पर यह क्रियारूप योग्यता अयोगी जीवों के और सिद्धालय में स्थित सिद्ध जीवों के नहीं पायी जाती।

इतना विशेष है और मुक्त होने पर जीव का यद्यपि ऊर्ध्वगमन देखा जाता है, पर तब भी उनके प्रदेशों में चांचल्य नहीं होता।”

समयसार शास्त्र की टीका लिखते समय आचार्यश्री अमृतचन्द्र ने ४७ शक्तियों का वर्णन किया है। वहाँ भावशक्ति का अर्थ इस प्रकरण से अलग है।

**प्रदेश की अपेक्षा जीवादि द्रव्यों का विभाजन -**

इसके पहले भी प्रदेश की परिभाषा बताई गई है; तथापि यहाँ अस्तिकाय एवं अकाय के सन्दर्भ में प्रदेश की परिभाषा फिर से बताई जा रही है।

१. प्रदेश की व्युत्पत्ति तत्त्वार्थसूत्र के अध्याय २ के ३८वें सूत्र की टीका में आचार्यश्री पूज्यपाद ने निम्नानुसार बताई है - “प्रदिश्यन्ते इति प्रदेशाः परमाणवः। अर्थात् एक परमाणु जितने स्थान पर दिखाई देता है, वह प्रदेश है।”

२. प्रवचनसार की गाथा १४० की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र प्रदेश सम्बन्धी कहते हैं - “एक परमाणु जितने आकाश के भाग में रहता है, उतने भाग को ‘आकाशप्रदेश’ कहते हैं और वह सूक्ष्मरूप से (परिणत जगत के) समस्त परमाणुओं को अवकाश देने में समर्थ है।”

३. कषायपाहुड़ में भाग २/२.२/१२/७/१० में आचार्यश्री गुणधर ने कहा है - “जिसका दूसरा हिस्सा नहीं हो सकता - ऐसे आकाश के अवयव को प्रदेश कहते हैं।”

आकाश के प्रदेश के माध्यम से हम यहाँ जीवादि छह द्रव्यों के प्रदेशों की संख्या जानने का प्रयास करते हैं अर्थात् कितने और कौन-कौन से द्रव्य अस्तिकाय हैं और कौन अकाय हैं।

नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेव विरचित द्रव्यसंग्रह शास्त्र की गाथा २४ व २५ के अनुसार अस्तिकाय का लक्षण एवं उनकी प्रदेश संख्या इसप्रकार है -

“जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश - ये पाँच द्रव्य हैं, इसलिए इन्हें ‘अस्ति’ कहा जाता है और काय की भाँति बहुप्रदेशी हैं, इसलिए इन्हें ‘काय’ कहते हैं। इस प्रकार से ये पाँच द्रव्य ‘अस्तिकाय’ हैं। कालाणु एक-एक प्रदेश वाला होता है; इसलिए इसकी काय संज्ञा नहीं है, उसमें कायपना नहीं है, इस कारण से उसे अस्तिकाय में नहीं गिना जाता।”

तात्पर्य यह है -

१. प्रत्येक जीव, समस्त लोकाकाश में प्रसारित हो सकता है और लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश हैं; इसलिए जीव भी असंख्यात प्रदेशी है।

२-३. धर्म और अधर्म भी समस्त लोकाकाश में तिल में तेल की भाँति विस्तृत हैं, इसलिए वे दोनों द्रव्य भी असंख्यात प्रदेशी हैं।

४. आकाश के अनन्त प्रदेश हैं; क्योंकि आकाश लोकाकाश के बाहर भी है, उसकी कोई मर्यादा नहीं है।

५. पुद्गल के अनन्त परमाणु हैं, परन्तु एक परमाणु स्वतन्त्र भी होता है और दो, चार, बीस, हजार, लाख आदि संख्यात, असंख्यात और अनन्त परमाणु मिलकर छोटे-बड़े स्कन्ध बनते हैं। इस कारण से पुद्गल को संख्यात, असंख्यात तथा अनन्त प्रदेशी कहा जाता है।

६. कालाणु, एक-एक अलग-अलग स्वतन्त्र रहता है, वे मिलकर स्कन्ध नहीं होते; इस कारण कालद्रव्य कायवान नहीं हैं अर्थात् अकाय है। इसी अपेक्षा से शास्त्र में इन्हें अनस्तिकाय भी कहा है।

१०६. प्रश्न - जीवादि द्रव्यों का स्वरूप जानने से हमें क्या लाभ है?

उत्तर - जीवादि द्रव्य को जानने से हमें अनेक लाभ होते हैं -

१. जीवादि अनन्त द्रव्यों में से किसी भी एक द्रव्य की पूर्णता के लिए किसी अन्य द्रव्य से कुछ भाग उधार लेना बिलकुल आवश्यक नहीं

है; अतः मैं जीवद्रव्य अनादि से परिपूर्ण हूँ, मुझे किसी से कुछ लेना आवश्यक नहीं है।

भगवान महावीर की आत्मा ने अन्य सिद्ध भगवन्तों से कुछ हिस्सा उधार लिया होगा तभी पूर्ण सिद्ध बने होंगे - ऐसा बिलकुल नहीं है। वे पुरुरवा भील और मारीच की अवस्था में तथा इससे पूर्व की अन्य अवस्थाओं में भी अनादिकाल से स्वयमेव ही परिपूर्ण थे।

समस्त पुद्गल और धर्मादि अन्य चारों द्रव्य भी परिपूर्ण और परद्रव्यों से निरपेक्ष ही हैं; अतएव किसी भी द्रव्य को अन्य किसी भी द्रव्य की अणुमात्र की भी अपेक्षा नहीं है।

२. यदि किसी भी जीवद्रव्य अथवा पुद्गलादि पाँच अजीवद्रव्यों में से किसी भी एक द्रव्य का कर्ता भगवान को मान लिया जाए तो विश्व, अनादि-अनन्त और स्वयंसिद्ध नहीं होता। इस ईश्वर-कर्तृत्व की मान्यता का आगमप्रमाण से विरोध होने से अनन्त अरहन्तादि पाँच परमेष्ठियों से भी विरोध का भाव एवं महा विपरीतता का प्रसंग आएगा।

३. जब भगवान महावीर का आत्मा मारीचि एवं पुरुरवा भील की अवस्था में था, उस समय भी उस जीव में तीर्थकर भगवान महावीर बनने की पर्याय सुप्त/गुप्त रीति से (भविष्य के गर्भ में अथवा शक्तिरूप से) विद्यमान थी।

मेरी भविष्यकालीन संसार की शेष अवस्थाएँ तथा आगामी सिद्धपर्याय आज भी मेरे में निश्चितरूप से हैं - ऐसा सहज ही विश्वास उत्पन्न होता है।

४. जीवादि सभी द्रव्यों में परस्पर भिन्नता का बोध जागृत होता है -

- जीव चेतन है और पुद्गलादि पाँचों द्रव्य अचेतन हैं।
- धर्मद्रव्य गमन में निमित्त है तो अधर्मद्रव्य ठहरने में निमित्त हैं।
- पुद्गलद्रव्य रूपी है, शेष सभी द्रव्य अरूपी हैं।

- कालाणु और परमाणु एकप्रदेशी हैं तो स्कन्धरूप पुद्गल, जीव, धर्म, अधर्म और आकाशद्रव्य अनेकप्रदेशी हैं।
- जीव और पुद्गल सक्रिय अर्थात् क्रियावान हैं, शेष सभी धर्मादि चारों द्रव्य निष्क्रिय हैं।

इसप्रकार अनेक प्रकार की विभिन्नताएँ एवं विरोध दिखाई देने पर भी अनादिकाल से अनन्तकाल तक साथ-साथ ही रहेंगे; अतः हम मनुष्यों को भी आपस में कुछ मतभेद हों तो भी आनन्द से साथ-साथ रहना चाहिए।

५. प्रत्येक द्रव्य का अपना अभेद्य स्वरक्षा का सुरक्षा कवच है, जिसके कारण कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य में प्रवेश कर ही नहीं सकता है तो कौन, किसका अच्छा या बुरा कैसे कर सकेगा?

जब मैंने आपके घर में प्रवेश ही नहीं किया तो आपके घर से कुछ लूटकर/चुराकर ले गया - यह कैसे सम्भव है? अतः कोई भी द्रव्य किसी का अच्छा-बुरा करता या कराता है - यह मात्र भ्रम है।

जैसे, घड़ी आदि वाटर-प्रूफ, फायर-प्रूफ आदि रहती हैं; वैसे ही जीवादि प्रत्येक द्रव्य, अन्य अनन्त द्रव्यों से स्वतन्त्र ही रहते हैं, किसी का किसी में प्रवेश नहीं है।

६. प्रत्येक जीव अनन्त गुणों का भण्डार है, चाहे वह नरक का जीव हो या निगोद का, पशु-पक्षी हो या कीड़ा-मकोड़ा, राजा हो या रंक, पढ़ा-लिखा हो या अनपढ़, हाथी हो अथवा चींटी, बड़ा वृक्ष हो या लघु वनस्पति। सभी जीव समानरूप से गुणों के भण्डार ही हैं, कोई छोटा-बड़ा है ही नहीं। सिद्ध भगवान का जीव हो अथवा एक श्वाच्छोच्छ्वास में १८ बार मरनेवाला जीव हो; सभी जीव, जीव द्रव्य की अपेक्षा समान ही हैं; क्योंकि दोनों में अनन्त-अनन्त गुण हैं।

उक्त कथन जीवद्रव्य की अपेक्षा से किया गया है, इसी तरह पुद्गल के प्रत्येक परमाणु के सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिए। धर्म, अधर्म

और आकाशद्रव्य में भी अनन्त-अनन्त गुण होते हैं। कालद्रव्य, परमाणु के आकाररूप हैं, अतः उन्हें कालाणु भी कहते हैं। लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर एक-एक कालाणु स्थित है; इनके निमित्त से ही अन्य द्रव्यों में परिणमन होता है। प्रत्येक कालाणु में भी अनन्त-अनन्त गुण होते हैं।

७. द्रव्य का स्वरूप जानने से निज भगवान आत्मा की महिमा आती है; क्योंकि आत्मा भी एक स्वयंसिद्ध, अनन्त गुणों का भण्डार जीवद्रव्य है। आत्मा की महिमा आना और अन्य द्रव्यों का आकर्षण मिट जाना - एक ही सिक्के के दो पहलू हैं; अतः अपनी आत्मा की महिमा आते ही अन्य द्रव्यों का आकर्षण मिट जाता है - यह सहज सिद्ध है।

१०७. प्रश्न - हमें कौन-सा काम पहले करना चाहिए? अपनी आत्मा की महिमा लाना अथवा अन्य द्रव्यों का आकर्षण मिटाना?

उत्तर - भाई! जो काम हमारे आधीन और हमारे हाथ में हो, उसे ही करना बुद्धिमानी है। अन्य द्रव्यों का आकर्षण मिटाना तो स्वयमेव हो जानेवाला कार्य है, उसमें करना क्या है? जब हम आगम के अवलम्बन, गुरु के उपदेश और स्वयं के चिन्तन/मनन के साथ युक्तिपूर्वक निज आत्मा को सर्वप्रथम जानेंगे तो निश्चितरूप से आत्मा की महिमा आएगी ही; अतः हमें सबसे पहिले आत्मा के स्वभाव का ज्ञान करानेवाले शास्त्रों का अध्ययन करना चाहिए। शास्त्र अध्ययन के लिए हमें सत्समागम भी बहुत उपकारी है।

१०८. प्रश्न - आप आत्मा की महिमा की ही बात क्यों करते हैं? पंच परमेष्ठी की महिमा की बात क्यों नहीं करते?

उत्तर - जिसे पंच परमेष्ठी की महिमा आती है अर्थात् जिनकी श्रद्धा में पंच परमेष्ठी ही सर्वोपरि हैं, उनके लिए ही आगे की यह चर्चा है। जिन्हें अभी पंच परमेष्ठी को छोड़कर अन्य रागी-द्वेषी देवी-देवताओं की महिमा आती है; उन्हें तो सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का निर्णय ही सर्वप्रथम करना ही चाहिये। हमने पूर्व प्रश्न के उत्तर में आगम का अभ्यास और गुरु के

उपदेश से आत्मा को जानने की बात भी कही है। आपको भी हमारी विवक्षा समझने का प्रयास करना चाहिए।

१०९. प्रश्न - जब देव-शास्त्र-गुरु की महिमा करते-करते ही आत्मा की महिमा आएगी तो आप द्रव्य का स्वरूप जानने से आत्मा की महिमा आती है - ऐसा क्यों समझा रहे हैं?

उत्तर - भाई! प्रथमानुयोग और चरणानुयोग में देव-शास्त्र-गुरु की विशेष महिमा की बात की जाती है। जबकि यहाँ द्रव्यानुयोग के अनुसार कथन चल रहा है। यहाँ तो आत्मा ही सर्वोपरि है। कुछ काल के लिए सही, पंच परमेष्ठी को अतिशय विनयपूर्वक गौण करके अपनी भगवान आत्मा की अतिशय उपादेयबुद्धिपूर्वक निश्चय सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान प्राप्त करके ही आत्म-कल्याण सम्भव है।

११०. प्रश्न - यह कैसे? कुछ समझ में नहीं आया?

उत्तर - समझ लीजिए कि तीर्थकर भगवान महावीर के समवसरण में अनेक मुनिराज उनके दर्शन और दिव्यध्वनि के माध्यम से उपदेश सुनने के लिए गये हैं। इनमें से कुछ मुनि महाराज उसी समवसरण में बैठे-बैठे ही केवलज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। बताइए - कि मुनिराजों को केवलज्ञान प्राप्त होने में - १. भगवान की दिव्यध्वनि के माध्यम से उपदेश सुननेरूप कार्य, २. तीर्थकर भगवान का दर्शन करनेरूप कार्य और ३. निज शुद्धात्मा का ध्यान करनेरूप कार्य - इन तीनों में से कौन-सा कार्य करते-करते केवलज्ञान की प्राप्ति हुई?

सामान्य अभ्यासी श्रावक भी कहेगा कि आत्मध्यान करते-करते ही मुनिराज को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि केवली भगवान बनने के लिए आत्मा का ध्यान ही उपयोगी अर्थात् कार्यकारी है।

वास्तव में देखा जाए तो जिसे मोक्ष की प्राप्ति करना है, उसे मात्र निज शुद्ध आत्मा का ध्यान करना ही एकमात्र उपाय है, अन्य कोई

उपाय नहीं है। जब आत्मध्यान ही एकमेव उपाय सिद्ध हुआ तो पंच परमेष्ठी सहज ही गौण हो गए - ऐसा विषय स्पष्टरूप से समझ में आ जाता है। आप यह स्पष्ट समझ लें कि ऐसा करने से पंच परमेष्ठी की अविनय कदापि नहीं होती है, बल्कि अतिशय विनय प्रदर्शित होती है; क्योंकि उन्होंने स्वयं यह कार्य किया है तथा उनका स्वयं का उपदेश भी यही है कि हमने इसी विधि से अपना कल्याण किया है और तुम भी इसी विधि से अपना कल्याण करो।

१११. प्रश्न - मोक्ष की प्राप्ति का एकमात्र उपाय 'आत्मध्यान' ही है - यह तो आपने युक्ति से सिद्ध कर दिया, क्या इसके लिए कोई शास्त्र का आधार भी है?

उत्तर - क्यों नहीं है, विषय की प्रामाणिकता के लिए निम्न प्रकार शास्त्राधार प्रस्तुत हैं। आचार्य श्री पूज्यपादस्वामी ने 'समाधिशतक' ग्रन्थ में श्लोक ३१ द्वारा स्पष्ट किया है -

यः परमात्मा स एवाऽहं, योऽहं सः परमस्ततः।

अहमेव मयोपास्यो, नाऽन्यः कश्चिदिति स्थितिः॥

अर्थात् जो परमात्मा है, वह ही मैं हूँ और जो मैं हूँ, वह ही परमात्मा है। इस कारण मैं ही मेरे द्वारा उपास्य हूँ, दूसरा कोई उपास्य नहीं है - यह ही वास्तविक स्थिति है।

ग्रन्थाधिराज समयसार की प्रथम गाथा की टीका करते समय आचार्य श्री अमृतचन्द्रदेव ने भी ध्येयस्वरूप निज भगवान आत्मा को बिम्ब बताया है और अनन्त सिद्धों को प्रतिबिम्ब कहा है।

समयसार में अनेक गाथाओं एवं कलशरूप श्लोकों में तथा परमात्मप्रकाश आदि ग्रन्थों में इसी विषय को पुनः पुनः कहा गया है। हमें सूक्ष्मता एवं बहुमान से तथा आत्मकल्याण की भावना से अध्यात्म ग्रन्थों का स्वाध्याय करना आवश्यक है, इससे विषय पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है।

इसप्रकार यहाँ द्रव्य-विवेचन ८९ प्रश्नोत्तर के साथ पूर्ण होता है। ●

## गुण-विवेचन

अब यहाँ से गुण का विवेचन प्रारम्भ होता है। यद्यपि पहले द्रव्य-विवेचन में भी गुण की परिभाषा दी गई है, पर्याय एवं द्रव्य के साथ गुणों के सम्बन्ध में भी कुछ लिखा गया है; तथापि अब यहाँ गुण का स्वतन्त्र प्रकरण लिखते हैं। चूँकि यहाँ गुण के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक लिखना है। इस कारण यहाँ फिर से गुण की परिभाषा देना अनिवार्य हो गया है। पाठकों को विषय अच्छी रीति से आत्मसात् हो - इस भावना से यहाँ पुनरावृत्ति हो रही है, उसे दोष न जानें - यह निवेदन है।

**११२. प्रश्न - द्रव्य-विवेचन के पश्चात् गुण का स्वरूप समझना क्यों आवश्यक है?**

**उत्तर -** द्रव्य की परिभाषा में 'गुणों का समूह' यह वाक्यांश आया है; इस कारण से गुण क्या हैं? - ऐसा प्रश्न स्वाभाविक ही मन में उत्पन्न होता है; अतः द्रव्य के स्वरूप को विस्तारपूर्वक समझने के तुरन्त बाद गुण के स्वरूप को जानने की जिज्ञासा उदित होना स्वाभाविक भी है।

**११३. प्रश्न - गुण किसे कहते हैं?**

**उत्तर -** जो द्रव्य के सम्पूर्ण भागों में और उसकी सम्पूर्ण अवस्थाओं में रहते हैं; उन्हें गुण कहते हैं।

**११४. प्रश्न - द्रव्य में गुण किस प्रकार रहते हैं?**

**उत्तर -** द्रव्य में गुण किस प्रकार रहते हैं - यह तथ्य दृष्टान्त द्वारा समझाने का प्रयास करते हैं। जैसे - कोई धनवान मनुष्य, गर्मी के दिनों में २० वस्तुओं को मिलाकर ठण्डाई बनाता है। उस ठण्डाई में छोटी सुई को डुबोकर निकाला जाए। फिर इस सुई के अग्रभाग पर लगी हुई ठण्डाई को अपनी जीभ पर रखकर स्वाद लेने को कहा जाए और आपसे पूँछा जाए कि सुई की नोक पर व्याप्त ठण्डाई को चखने पर कितने पदार्थों का स्वाद आया?

आपका सहज उत्तर आया कि जितने पदार्थों से मिलाकर ठण्डाई बनी है, उतने सभी पदार्थों का स्वाद आया अर्थात् एक साथ उस अत्यल्प ठण्डाई में भी २० पदार्थों का स्वाद आ गया; उसीप्रकार जीवद्रव्य अथवा पुद्गलदि द्रव्यों के एक-एक प्रदेश पर भी नियम से अनन्त-अनन्त गुण एक ही स्थान पर होते/रहते हैं।

**११५. प्रश्न - 'गुण, द्रव्य के सम्पूर्ण भागों में रहते हैं' - इसका क्या आशय है?**

**उत्तर -** गुण और द्रव्य का क्षेत्र एक ही है, किसी का छोटा या बड़ा नहीं है; उन्हें एक-दूसरे से अलग भी नहीं किया जा सकता। इसप्रकार गुण और द्रव्य की क्षेत्र सम्बन्धी अखण्डता का ज्ञान होता है।

धर्म-अधर्मद्रव्य लोकाकाश में सर्वत्र (तिल में तेल के समान) अर्थात् लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश में व्याप्त हैं। लोकाकाश का एक प्रदेश भी धर्म-अधर्मद्रव्य से रहित नहीं है, सहित ही है तथा धर्म-अधर्मद्रव्य का जितना क्षेत्र है, उतना ही क्षेत्र गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व इत्यादि गुणों का भी है। यही 'द्रव्य के सम्पूर्ण भाग' से तात्पर्य है।

**११६. प्रश्न - यदि द्रव्य के कुछ क्षेत्र (हिस्से/भाग) में गुण न हों तो क्या आपत्ति है?**

**उत्तर -** आपत्ति ही आपत्ति है। द्रव्य के जिस क्षेत्र (विभाग) में गुण नहीं होंगे तो वहाँ द्रव्य भी नहीं रहेगा; क्योंकि गुणों के समूह को ही तो द्रव्य कहते हैं। यदि वहाँ गुण नहीं हो तो वहाँ द्रव्य भी कैसे होगा?

जैसे, जिस लोकाकाश के क्षेत्र में धर्मद्रव्य तो रहेगा, लेकिन गतिहेतुत्व गुण नहीं रहेगा तो वहाँ के जीव-पुद्गलों के गमन में धर्मद्रव्य कैसे निमित्त होगा? गुणों के बिना द्रव्य का अस्तित्व ही शक्य नहीं है। इसलिए गुण, द्रव्य के सम्पूर्ण क्षेत्र में रहते ही हैं - ऐसा ही वस्तुस्वरूप है, उसे अवश्य स्वीकारना चाहिए।

स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण - ये चार विशेष गुण पाये जाते हैं। यदि हम पुस्तकरूप के एक कोने में स्पर्श, दूसरे में रस, तीसरे में गन्ध और चौथे में वर्ण गुण मानेंगे तो गुण तथा द्रव्य की क्षेत्र सम्बन्धी अखण्डता नष्ट हो जाएगी; अतः हमें पुस्तकरूप पुद्गलद्रव्य के प्रत्येक अणु-अणु में स्पर्शादि चारों गुणों की सत्ता स्वीकारनी होगी, तभी गुण और द्रव्य की क्षेत्र सम्बन्धी अखण्डता सिद्ध होगी।

जैसे - गुड़ का ढेला हो, उस ढेले के मात्र ऊपरी भाग में मिठास हो और अन्दर के भाग में मिठास न हो तो उसे गुड़ कैसे कहा जाएगा? यदि मिठास न हो तो वह गुड़ न होकर मिट्टी का ढेला ही बन जाएगा; लेकिन ऐसा होता ही नहीं। गुण तो नियम से द्रव्य के सब भागों में रहते ही हैं, इसलिए गुण की परिभाषा में स्पष्ट बताया गया है कि गुण, द्रव्य के सम्पूर्ण भागों में रहते हैं। इस कारण 'गुण, द्रव्य के सम्पूर्ण भागों में रहते हैं' - यह वाक्यांश द्रव्य की क्षेत्र-सम्बन्धी अखण्डता का ज्ञान कराता है।

हम आप जीव हैं, जीव ज्ञानादि 'गुणमय' हैं, ज्ञानादि 'गुणवाला' नहीं है। 'गुणमय' शब्द में तो द्रव्य और गुण का तादात्म्य सम्बन्ध समझ में आता है। 'गुणवाला' कहने से द्रव्य और गुण की भिन्नता का आभास होता है, इसलिए 'द्रव्य गुणमय है' - ऐसा जानना ही यथार्थ है।

द्रव्य की गुणमयता को स्पष्ट करने के लिए ही द्रव्य के सम्पूर्ण भागों में गुण रहते हैं - ऐसा कथन ज्ञानियों ने किया है।

११७. प्रश्न - गुण की परिभाषा में '(जो द्रव्य की) सम्पूर्ण अवस्थाओं में रहते हैं।' - इस वाक्यांश का क्या आशय है?

उत्तर - गुण और द्रव्य त्रैकालिक हैं, अतः गुण का द्रव्य में कभी अभाव नहीं होता। इसप्रकार गुण और द्रव्य की काल सम्बन्धी अखण्डता का पता चलता है।

पुस्तकरूप पुद्गलद्रव्य में स्पर्शादि गुण किसी विशेष समय पर ही रहते हों अर्थात् मात्र रात्रि में ही रहते हों, दिन में नहीं तो इस मान्यता से

गुण और द्रव्य की काल सम्बन्धी अखण्डता खण्डित हो जाती है। पुस्तकरूप पुद्गलद्रव्य में अनादि से स्पर्शादि गुण रहते आये हैं और भविष्य में भी अनन्तकाल पर्यन्त रहेंगे। यही तो गुण और द्रव्य की काल सम्बन्धी अखण्डता है।

जैसे - सुबह तो द्रव्य में अनन्त गुण रहते हैं और दोपहर में अतिधूप के कारण से गुणों की संख्या कुछ कम हो जाती है तथा रात को तो अन्धेरे के कारण द्रव्य में से गुण विशेषरूप से कम हो जाते हैं। फिर सुबह पुनः अनन्त गुण हो जाते हैं - ऐसा नहीं होता। न २४ घण्टों में गुण हीनाधिक होते हैं, न वर्षा-धूप-ठण्ड के कारण गुणों की संख्या कम-ज्यादा होती है। अनादिकाल से अनन्तकाल पर्यन्त प्रत्येक द्रव्य में अनन्त ही गुण रहते हैं।

११८. प्रश्न - प्रथमकाल, द्वितीयकाल, तृतीयकाल, चतुर्थकाल, पंचमकाल, षष्ठकाल, भोगभूमि, कर्मभूमि, आर्यखण्ड, म्लेच्छखण्ड इत्यादि कारणों से तो गुणों के स्वरूप में भेद (अन्तर) तो होता होगा ना?

उत्तर - ऊपर कहा गया है कि अनादिकाल से अनन्तकाल पर्यन्त प्रत्येक द्रव्य में अनन्त ही गुण रहते/होते हैं; अतः उक्त कारणों से भी गुण के स्वरूप में कुछ भी अन्तर नहीं होता - ऐसा हमें निर्णय करना चाहिए।

११९. प्रश्न - गुण का ज्ञान करानेवाली अन्य भी अनेक परिभाषाएँ शास्त्र (आगम) में हैं क्या?

उत्तर - हाँ! अन्य अनेक परिभाषाएँ हैं; उनमें से नीचे कुछ परिभाषाएँ दे रहे हैं -

१. पंचास्तिकाय गाथा १० की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने गुण की परिभाषा दी है - 'वस्तु के अन्वयी विशेष गुण हैं, जो कि द्रव्य में एक ही साथ प्रवर्तते हैं।'

२. तत्त्वार्थसार में आचार्य अमृतचन्द्र ने ही अध्याय ३, श्लोक ९ में



गुण के सम्बन्ध में कहा है - 'किसी द्रव्य में शक्ति की अपेक्षा से भेद कल्पित करना, यही गुण शब्द का अर्थ है।'

३. कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कार्तिकेयस्वामी ने गाथा २४१ के पूर्वार्द्ध में लिखा है - 'जो द्रव्य का परिणाम सदृश (पूर्व-उत्तर सब पर्यायों में समान) तथा अनादिनिधन होता है, वही गुण है।'

४. मुनिराजश्री योगीन्दुदेव ने परमात्मप्रकाश गाथा ५७ में कहा है - 'गुण तो द्रव्य में सहभावी हैं, अन्वयी हैं, सदा नित्य हैं; कभी द्रव्य से तन्मयता नहीं छोड़ते।'

५. आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में अध्याय ५ के सूत्र ४१ द्वारा स्पष्ट किया है - 'जो द्रव्य के आश्रय से हों और स्वयं दूसरे गुणों से रहित हों वे गुण हैं।'

अनेक ग्रन्थों में अन्य भी अनेक परिभाषाएँ हैं - उन सबका भाव एक ही जैसा होने से विस्तारभय से मात्र यहाँ पाँच ही परिभाषाएँ दी हैं।

१२०. प्रश्न - गुण को अन्य किन नामों से जिनवाणी में कहा है?

उत्तर - पाण्डे राजमलजी ने पंचाध्यायी के अध्याय १ में गुण के अनेक पर्यायवाची नाम दिये हैं - 'शक्ति, लक्ष्म, विशेष, धर्म, रूप, गुण, स्वभाव, प्रकृति, शील और आकृति - ये सब एकार्थवाची शब्द हैं अर्थात् ये सब विशेष या गुण के पर्यायवाची नाम हैं।'

१२१. प्रश्न - गुण और द्रव्य में परस्पर कौनसा सम्बन्ध है?

उत्तर - गुण और द्रव्य में चार प्रकार के सम्बन्ध है -

१. नित्य तादात्म्यसिद्ध सम्बन्ध - गुण और द्रव्य में शक्कर और मिठास के समान नित्य तादात्म्यसिद्ध सम्बन्ध है, शक्कर और डिब्बे के समान संयोगसम्बन्ध नहीं। द्रव्य और गुण एकरूप हैं, तन्मय हैं। द्रव्य से गुण को अथवा गुणों से द्रव्य को कभी भी अलग नहीं किया जा सकता।

मिथ्यादृष्टि/अज्ञानी जीव, जिन पदार्थों का संयोग सम्बन्ध है, उनके साथ भी तादात्म्य सम्बन्ध मानता है, इस कारण दुःखी होता है। जैसे -

पुत्र, मित्र, पत्नी आदि प्रत्यक्ष में ही भिन्न हैं। उनकी भिन्नता जानने के लिए अधिक सूक्ष्म चिन्तन की भी कहाँ आवश्यकता है?

यद्यपि मनुष्य को पत्नी का संयोग, विवाह के कारण होता है, उसके बाद पुत्र की प्राप्ति होती है; तथापि अज्ञानी, स्त्री-पुत्र को अपना ही मानता हैं। लोक में हम देखते हैं कि परिणामों की ऐसी विचित्रता है कि माता-पिता का संयोग तो जन्म से रहता है; परन्तु विवाह के बाद माँ-बाप दूर के हो जाते हैं और पत्नी अधिक नजदीक की हो जाती है। सही देखा जाए तो इन सभी का संयोग-सम्बन्ध ही है।

देखो! इस जीव को संयोगजनित पदार्थ अज्ञान के कारण वास्तविक अपने जैसे लगने लगते हैं; इसलिए उनके वियोग से उसे दुःख होता है तथा जो ज्ञानादि गुण वास्तविक अपने हैं, उनको अपना नहीं मानता; इसलिए वास्तविक सुख प्राप्त नहीं होता है।

सत्य बात तो यह है कि ज्ञानगुण के साथ ही जीव का तादात्म्य सम्बन्ध है, जबकि क्रोधादि विकारी परिणामों के साथ भी जीव का संयोग सम्बन्ध है। इस विषय का विवेचन समयसार गाथा ६९-७० की टीका में श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने किया है, उसे जरूर देखें।

जो अपना (ज्ञान) है, वह कभी आत्मा को छोड़कर जाता नहीं और जो (परद्रव्य एवं क्रोधादि विकारी भाव) अपने को छोड़कर चले जाते हैं, वे अपने नहीं; यही सत्यस्वरूप है।

२. अंश-अंशी सम्बन्ध - गुण को विभाग भी कहते हैं। विभाग और अंश का एक ही अर्थ है। इसका स्पष्ट अर्थ है कि गुण को अंश भी कह सकते हैं। पंचाध्यायी, पूर्वार्द्ध के श्लोक ४८ के भावार्थ में अंश को गुण कहा भी है। अर्थात् गुणों या अंशों को जो धारण करता है, उसे अंशी या गुणी अर्थात् द्रव्य कहते हैं।

तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ५, सूत्र ३४-३५-३६ की सर्वार्थसिद्धि टीका में आचार्य पूज्यपाद ने गुण का अर्थ स्निग्ध-रूक्षरूप स्पर्शपर्याय किया है, परन्तु वहाँ स्निग्ध-रूक्षरूप शक्त्यंशों को गुण कहा गया है।

३. आधेय-आधार सम्बन्ध - द्रव्य और गुण में आधार-आधेय सम्बन्ध है। द्रव्य, आधार देने वाला है और गुण, आधेय अर्थात् आधार लेने वाले हैं। जैसे - टेबल पर शास्त्र रखे हैं। यहाँ टेबल आधार है और शास्त्र आधेय हैं।

सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ के अध्याय ५, सूत्र ४१ में 'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः' - यह सूत्र आया है। इस सूत्र के विशेषार्थ में पण्डित फूलचन्दजी सिद्धान्तशास्त्री के द्वारा विषय अच्छा स्पष्ट हुआ है; इसलिए उसे हम यहाँ दे रहे हैं -

'द्रव्य को 'गुण और पर्यायवाला' बतलाया है, इसी से स्पष्ट है कि गुण, द्रव्य के आश्रय से रहते हैं अर्थात् द्रव्य आधार है और गुण आधेय हैं, पर इससे आधार और आधेय में कुण्ड और दही के समान सर्वथा भेदपक्ष का ग्रहण नहीं करना चाहिए; क्योंकि गुण, द्रव्य के आश्रय से रहते हुए भी वे उससे कथंचित् अभिन्न हैं। जैसे - तैल, तिल के सब अवयवों में व्याप्त होकर रहता है; वैसे ही प्रत्येक गुण, द्रव्य के सभी अवयवों में समानरूप से व्याप्त होकर रहते हैं।'

४. विशेषण-विशेष्य सम्बन्ध - सफेदी और शक्कर में विशेषण-विशेष्य सम्बन्ध है। गुणों को विशेषण कहते हैं और द्रव्य विशेष्य है। अधिक जानकारी के लिए जिज्ञासु पाठक, पंचाध्यायी, अध्याय १, श्लोक ३८ से ४३ देखें।

१२२. प्रश्न - गुण और द्रव्य में किस अपेक्षा अन्तर है?

उत्तर - गुण और द्रव्य में निम्नानुसार अन्तर है -

१. संज्ञा (नाम) अपेक्षा अन्तर - गुण का नाम 'गुण' है और द्रव्य का नाम 'द्रव्य' है - इस तरह नाम (संज्ञा) की दृष्टि से गुण और द्रव्य में अन्तर है।

२. संख्या (गणना) की अपेक्षा अन्तर - गुणों की संख्या अनन्त है। किसी भी द्रव्य में नियम से गुण अनन्त ही होते हैं। अनन्त से कम

गुणों के समूह को द्रव्य नहीं कहते, अनन्त गुणों का समूहरूप पिण्ड ही द्रव्य है। द्रव्य एक है। (जाति की अपेक्षा से द्रव्य छह हैं और विश्व में एक-एक द्रव्य को भिन्न-भिन्न समझना चाहें तो द्रव्य अनन्तानन्त हैं) यहाँ तो गुण और द्रव्य की संख्या की अपेक्षा विचार चल रहा है; इसलिए गुण अनन्त हैं और अनन्तगुणमय द्रव्य एक है - ऐसी अपेक्षा जानना चाहिए।

३. लक्षण (स्वरूप) की अपेक्षा अन्तर - गुण का लक्षण भिन्न है; जैसे, 'जो द्रव्य के सम्पूर्ण भागों में और उसकी सर्व अवस्थाओं में विद्यमान रहते हैं, उन्हें गुण कहते हैं।' जबकि द्रव्य का लक्षण (स्वरूप) भिन्न है; अर्थात् 'गुणों के समूह को द्रव्य कहते हैं।'

४. प्रयोजन की अपेक्षा अन्तर - गुणों की स्वतन्त्रता का ज्ञान कराने का प्रयोजन यह है कि द्रव्य में अनन्त गुण रहते हैं। प्रत्येक गुण का स्वरूप/कार्य/लक्षण भिन्न-भिन्न हैं। एक गुण, अन्य अनन्त गुणों के साथ रहते हुए भी अपने स्वरूप (लक्षण) को कभी भी नहीं छोड़ता।

जैसे, जीवद्रव्य में ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, श्रद्धा, चारित्र, क्रियावती शक्ति, अस्तित्व आदि अनन्त गुण अनादिकाल से जीव के एक-एक प्रदेश में अन्य अनन्त गुणों के साथ रहते हुए भी ज्ञानगुण जानने का ही काम करता है; वह दर्शन, सुख आदि अन्य गुणों का कार्य नहीं करता। यही कारण है कि क्षायिक सम्यग्दृष्टि होने पर भी जीव चारित्र में अपेक्षित विकास नहीं कर पाता। इसप्रकार गुणों की परस्पर स्वतन्त्रता/स्वाधीनपना समझाने का प्रयोजन है।

इसीप्रकार पुद्गलादि के गुणों का ज्ञान कराने का भी अपना प्रयोजन है - जैसे, आम एक पुद्गल का स्कन्ध है; उसमें स्पर्शादि विशेष तथा अस्तित्वादि सामान्य गुण अनन्त-अनन्त रहते हैं। आम, योग्य समय पर पेड़ पर बड़ा होता है। यद्यपि कुछ समय तक बड़ा होने का कार्य

तो होता है; तथापि वह हरा रहता है, पकता नहीं है, उस समय उसका रस खट्टा रहता है, मीठा नहीं होता। स्पर्श भी कठोर रहता है, मृदु स्पर्श नहीं होता। गन्ध भी अपेक्षित सुगन्धरूप से परिणत नहीं होता। उसके बाद कुछ काल व्यतीत होने पर आम का रंग पीला तो हो जाता, लेकिन रस मीठा न होकर खट्टा ही बना रहता है; अतः पीला रंग होने पर रस मीठा ही होना चाहिए – यह नियम नहीं बन सकता; क्योंकि रंग (वर्ण) गुण में अनुकूल अवस्था होने पर भी रस गुण में मीठापन नहीं आया है।

इस तरह प्रत्येक गुण एवं उसका परिणमन स्वतन्त्र बताने का प्रयोजन गुण का ज्ञान कराने के पीछे छिपा है।

इसीप्रकार धर्मादि द्रव्यों के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए। मूलभूत विवाद (झंझट) जीव एवं पुद्गलद्रव्य के साथ ही रहता है, क्योंकि इन दोनों में ही विभावभाव (विपरीत परिणाम) होते हैं। धर्मादि द्रव्यों का परिणमन हमेशा शुद्धरूप ही रहता है।

१२३. प्रश्न – जिसप्रकार आपने गुणों का ज्ञान कराने का प्रयोजन बताया है, उसीप्रकार द्रव्य का ज्ञान कराने का भी क्या कुछ प्रयोजन है? यहाँ कोई कहेगा कि मुझे तो मात्र सुख से प्रयोजन है। श्रद्धा को सम्यक् रूप बनाओ या आत्ममग्नतारूप चारित्र में भी अपेक्षित विकास करते रहो – इन सब बातों से हमारा क्या प्रयोजन है?

उत्तर – देखो! सभी गुणों का पिण्डरूप जीवद्रव्य एक है। जीव के एक-एक प्रदेश में अनन्त-अनन्त गुण विराजमान हैं। आप मात्र अनन्त सुख की अपेक्षा रखोगे तो यह सम्भव नहीं है।

जीव के सभी गुणों में अर्थात् गुणों के समूहरूप द्रव्य में यथायोग्य मोक्षमार्ग एवं मोक्ष के लिए परिवर्तन आवश्यक है। आगम में यह भी कथन आया है कि कोई एक ही गुण मोक्षमार्गरूप नहीं होता। दृष्टि सम्यक् होते ही अनन्त गुणों में सम्यक्पना, आता है; इसलिए द्रव्य से गुण कथंचित् ही स्वतन्त्र हैं, सर्वथा स्वतन्त्र नहीं हैं।

जैसे, लौकिक में कोई कहेगा कि मुझे तो आम का मात्र मीठा-मीठा रस ही चाहिए। इसके साथ स्पर्श, गन्ध, वर्ण आदि गुणों की पर्यायों से मुझे कुछ लेना-देना नहीं है तो उससे यही कहना होगा – 'भाई! आमरूप पुद्गल के स्पर्शादि गुणों में से किसी भी एक गुण को तुम सर्वथा भिन्न नहीं कर सकते। अनन्त गुणमय द्रव्य को स्वीकार करना भी अनिवार्य ही समझना चाहिए।

यदि आप आम का मात्र मीठा रस ही चाहते हो तथा आम के जो स्पर्श, गन्ध, वर्ण आदि अन्य गुण हैं, उनको नहीं चाहते तो प्रत्यक्ष में मात्र रस का भोग करने का प्रयास करो, परन्तु आम तो नियम से स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णसहित ही प्राप्त होगा।

इसप्रकार द्रव्य के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान कराने का प्रयोजन (मतलब/अभिप्राय) समझ लेना चाहिए।

१२४. प्रश्न – तत्त्वार्थसूत्र में गुण को निर्गुण क्यों कहा है?

उत्तर – जिसप्रकार द्रव्य में गुण होते हैं; उसी प्रकार एक गुण में कोई अन्य गुण नहीं होता अर्थात् एक गुण, अन्य गुण से रहित होता है; इसलिए प्रत्येक गुण को निर्गुण कहा है। जैसे, आत्मा में ज्ञानगुण है, ज्ञानगुण का कार्य जानना है। इस ज्ञानगुण में चारित्रगुण का प्रवेश नहीं है, चारित्रगुण में ज्ञानगुण का प्रवेश नहीं है; क्योंकि प्रत्येक गुण का स्वरूप भिन्न-भिन्न है। एक आत्मा में ही ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, श्रद्धा, चारित्र आदि अनन्त गुण हैं, पर प्रत्येक गुण का किसी अन्य गुण में प्रवेश नहीं है। यदि एक गुण, दूसरे गुण में प्रवेश कर जाए तो कोई भी गुण, अपने स्वरूप में नहीं रह पाएगा तथा प्रत्येक गुण भी अपना कार्य स्वतन्त्ररूप से किस प्रकार कर सकेगा? इस विवक्षा से ही गुण की परिभाषा में प्रयुक्त 'निर्गुण' शब्द का अर्थ समझना चाहिए।

पुद्गल का स्पर्शगुण सदैव स्पर्शगुणरूप स्वतन्त्र ही रहता है। स्पर्शगुण का प्रवेश, रसादि गुणों में नहीं होता है और रसादि गुणों का प्रवेश स्पर्शगुण में नहीं होता है।

एक गुण का रूप अन्य गुणों में रहता है, यह विषय भी सत्य है, किन्तु उसकी अपेक्षा अलग है। चिद्विलास आदि ग्रन्थों में उसका वर्णन किया गया है। पूज्य आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजीस्वामी ने भी इसका वर्णन अपने प्रवचनों में विस्तार से किया है।

**१२५. प्रश्न - गुण का द्रव्य में क्या स्थान है?**

**उत्तर -** द्रव्य, द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव - इन चारों स्वरूप है तथा गुण, इन चारों में से अकेले भावस्वरूप है।

**१२६. प्रश्न - गुणों का कर्ता कौन है?**

**उत्तर -** विश्व तथा द्रव्य का कर्ता कोई नहीं है अर्थात् विश्व एवं द्रव्य, दोनों जिसतरह अनादि-अनन्त, अकृत्रिम तथा स्वयम्भू हैं, उसीतरह गुण भी अनादि-अनन्त, अकृत्रिम तथा स्वयम्भू है।

वास्तविकरूप से वस्तु-व्यवस्था का विचार किया जाए तो इस जगत् में कोई वस्तु/द्रव्य, किसी अन्य द्रव्य का कर्ता नहीं है। सर्व द्रव्य एवं सर्व गुण, विश्व के समान ही अनादि-अनन्त एवं स्वयम्भू हैं; इसलिए किसी भी गुण का न कोई कर्ता है और न हर्ता है। सब द्रव्यों के सभी गुण स्वयम्भू हैं - इस परम सत्य का स्वीकार करना ही चाहिए।

**१२७. प्रश्न - गुणों में परिवर्तन होता है या नहीं?**

**उत्तर -** गुणों का स्वरूप नहीं बदलता, इसलिए गुण अपरिवर्तनीय और नित्य हैं, किन्तु गुण की अवस्थाएँ बदलती हैं; इसीलिए उनमें परिवर्तन भी दिखाई देता है। जैसे, सामान्य दृष्टि से ज्ञान नित्य है, फिर भी वह कभी घट को जानता है और कभी पट को, इसीलिए अनित्य भी कहा जाता है।

जैसे, आम में वर्णगुण सदा रहता है, इस अपेक्षा से यद्यपि वर्णगुण नित्य है तो भी आम की हरी, पीली आदि अवस्था बदलने के कारण वह अनित्य भी होता है। इस विषय की स्पष्ट जानकारी के लिए 'पंचाध्यायी' अध्याय १ के श्लोक १०९ से ११४ पर्यन्त देखिए।

जैसे - ज्ञान, गुण है; जानना, उसकी पर्याय है। पर्याय का अर्थ ही अवस्था होता है। ज्ञानगुण का स्वरूप 'जानना' है, इसका यह जानन-जाननस्वरूप तो कभी बदलता नहीं है। जानना छोड़कर ज्ञानगुण का स्वरूप कभी प्रतीतिरूप या चारित्ररूप नहीं होता; क्योंकि प्रतीति करना तो श्रद्धागुण का कार्य है, स्थिरता करना, चारित्रगुण का कार्य है इत्यादि। इसी प्रकार सभी गुणों के स्वरूप को समझना चाहिए। इस अपेक्षा से सभी गुण अपरिवर्तनशील अर्थात् नित्य हैं।

गुण की अवस्थाएँ बदलती हैं। जैसे - ज्ञानगुण की अवस्थाएँ मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय अथवा केवलज्ञानरूप होती हैं। संक्षेप में कहें तो ज्ञानगुण अल्पज्ञानरूप अथवा पूर्णज्ञानरूप रहता है। अल्पज्ञान भी अनेक अवस्थाओं को धारण करता रहता है।

बालपने में ज्ञान अत्यल्प अवस्थारूप रहता है; किन्तु विकास क्रम में आयु बढ़ने के साथ ज्ञान, विकास को प्राप्त होता है। जैसे - अध्ययन/मनन करने से ज्ञान में वृद्धि होती है, प्रौढ़ावस्था तक पहुँचते-पहुँचते ज्ञान में बहुत अभिवृद्धि हो जाती है; किन्तु बुढ़ापा आते ही उसमें कमी आना प्रारम्भ हो जाता है और वह पुनः अल्पज्ञानरूप रह जाता है।

यहाँ जिसप्रकार ज्ञानगुण का विवेचन किया, उसी प्रकार चारित्र आदि गुणों पर भी हम इस विषय को स्पष्ट समझ सकते हैं। मनुष्यपर्याय में मुनिराज, ६वें-७वें गुणस्थान के योग्य चारित्रगुण का विकास करते हैं, पर स्वर्ग में पहुँचते ही पुनः चौथे गुणस्थानवर्ती असंयमी हो जाते हैं।

इसी प्रकार पुद्गल के स्पर्शादि गुणों में भी जानना चाहिए। जैसे - स्पर्शगुण, स्पर्श स्वरूप से तो एकरूप ही रहता है, परन्तु अवस्थाओं के परिवर्तन से वही स्पर्शगुण, शीत-उष्ण, हल्का-भारी, रूखा-चिकना और कोमल-कठोररूप बदलता रहता है। स्पर्शगुण के समान ही रस, गन्ध और वर्णगुण के सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिए।

१२८. प्रश्न – गुण की परिभाषा/स्वरूप जानने से हमें क्या लाभ हैं?

उत्तर – १. गुणों से द्रव्य की सिद्धि होती है, जिससे हमें द्रव्य का परिचय प्राप्त होता है, उसकी महिमा आती है।

जीवद्रव्य का परिचय प्राप्त करना हो तो हम ज्ञानादि गुणों से जीवद्रव्य का परिचय प्राप्त कर सकते हैं। एक अपेक्षा से गुणों को द्रव्य का उत्पादक भी कह सकते हैं; क्योंकि ज्ञानादि गुणों से ही तो जीवद्रव्य बना है।

यदि गुण नहीं होते तो द्रव्य भी नहीं होता; क्योंकि गुणों का समूह ही तो द्रव्य है। यदि ज्ञानादि गुण नहीं होते तो जीवद्रव्य भी नहीं होता; तथा यदि स्पर्शादि गुण नहीं होते तो पुद्गलद्रव्य भी नहीं होता। इसीप्रकार अन्य द्रव्यों के सम्बन्ध में भी समझ सकते हैं।

२. एक गुण, उसी द्रव्य के अन्य गुणों में कुछ नहीं कर सकता; क्योंकि प्रत्येक गुण का लक्षण/स्वभाव भिन्न-भिन्न होता है – ऐसा बोध होने से आकुलता मिटती है और कर्ताबुद्धि का नाश होता है।

उदाहरण के लिए हम आम के फल को पुद्गलद्रव्य के रूप में सामने रखते हैं। सामान्यतः जब आम पीला होता है, तब मीठा हो जाता है; किन्तु पीला आम मीठा ही हो – यह नियम नहीं है; क्योंकि कुछ आम अत्यन्त पीले हो जाने पर भी मीठे नहीं होते, खट्टे ही रहते हैं। साथ ही बहुत से हरे-हरे से दिखनेवाले आम का रस भी अत्यन्त मीठा होता है। इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि पीला रंग, आम के रस को मीठा नहीं बना सकता और हरा रंग, आम को खट्टा नहीं रख सकता है।

इसप्रकार जैसे, एक आम नामक रूपी-पुद्गल में रहनेवाला वर्ण गुण, उसी आम में रहने वाले रसगुण में कुछ कार्य नहीं कर सकता।

इसी तरह जीवद्रव्य पर भी घटित किया जा सकता है –

जैसे – जब आत्मा का श्रद्धागुण, पूर्ण निर्मल अवस्थारूप अर्थात् क्षायिक सम्यक्त्वरूप परिणत हो जाता है; तब भी श्रद्धा की वह पूर्ण निर्मल, सिद्धों जैसी पर्याय, चारित्रगुण की परिणति को सिद्ध जैसी पूर्ण निर्मल नहीं

बना सकती; क्योंकि चारित्र की पूर्ण निर्मल पर्याय को तो चारित्रगुण ही बना सकता है। इसी प्रकार अन्य गुणों को भी समझ सकते हैं।

जब एक द्रव्य में रहने वाला एक गुण, उसी द्रव्य के अन्य गुणों में कुछ नहीं कर सकता तो मनुष्य, घर-गृहस्थी चलावे, बाल-बच्चों का कल्याण करे, समाज का सुधार करे, राष्ट्र का उद्धार करे, इत्यादि बातें कैसे सम्भव हो सकती हैं? – ऐसा ज्ञान होने पर कर्ताबुद्धि का सहज ही अभाव होता है और आकुलता मिट जाती है।

३. मैं जीवद्रव्य, अनन्त गुणों का पिण्ड हूँ; इसलिए मैं भी महान हूँ, दरिद्री, हीन-दीन या बेकार नहीं हूँ – ऐसी बुद्धि प्रगट होती है। तथा दूसरे मनुष्यों को विशेष धनवान् अथवा शरीर से विशेष बलवान या सुन्दर जानकर अज्ञानी, जैसे दीनता का अनुभव करता है, वैसी प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है।

४. चारों ओर दिखाई देनेवाले जीवों को भी समभाव से देखने की भावना उत्पन्न होती है। जगत् में प्रत्येक जीव (कीड़ा, मकोड़ा, गधा, कुत्ता आदि) अपने समान ही है – ऐसा परिणाम उत्पन्न होता है। इस कारण मानसिक समाधान मिलता है और द्वेषभाव मन्द होता है अथवा नष्ट होता है।

५. अत्यन्त दुर्गन्ध एवं अशोभनीय पौद्गलिक पदार्थों को देखकर भी घृणा उत्पन्न नहीं होती; क्योंकि वे पुद्गल भी अनन्त गुणों के धनी हैं – ऐसा ज्ञान में स्वीकार हो जाता है।

६. गुण सम्बन्धी अज्ञान का नाश होता है अर्थात् गुण का स्पष्ट ज्ञान होता है, इसकारण आनन्द भी होता है।

१२९. प्रश्न – गुणों के कितने भेद हैं?

उत्तर – गुणों के दो भेद हैं – १. सामान्यगुण और २. विशेषगुण।

१३०. प्रश्न – सामान्यगुण किसे कहते हैं?

उत्तर – जो गुण, सर्व द्रव्यों में रहते हैं; उनको सामान्यगुण कहते हैं।

१३१. प्रश्न – विशेषगुण किसे कहते हैं?

उत्तर - जो गुण, सर्व द्रव्यों में न रहकर, अपने-अपने द्रव्य में रहते हैं; उनको विशेषगुण कहते हैं।

१३२. प्रश्न - सामान्यगुण कितने हैं?

उत्तर - सामान्यगुण अनन्त हैं, उनमें मुख्य छह हैं - १. अस्तित्व २. वस्तुत्व ३. द्रव्यत्व ४. प्रमेयत्व ५. अगुरुलघुत्व और ६. प्रदेशत्व।

१३३. प्रश्न - द्रव्य में सामान्यगुण नहीं मानेंगे तो क्या हानि होगी?

उत्तर - द्रव्य में सामान्यगुण नहीं मानेंगे तो द्रव्य की सिद्धि ही नहीं होगी अर्थात् द्रव्य के अभाव का प्रसंग आएगा।

१३४. प्रश्न - द्रव्य में विशेषगुण नहीं मानेंगे तो क्या हानि होगी?

उत्तर - द्रव्य में विशेषगुण नहीं मानेंगे तो एक द्रव्य से दूसरा द्रव्य भिन्न सिद्ध नहीं होगा, सर्व द्रव्य एक हो जाएँगे; क्योंकि विशेषगुण भेद-विज्ञान के साधक हैं।

१३५. प्रश्न - सामान्य व विशेष गुण में किस अपेक्षा से अन्तर है?

उत्तर - सामान्य व विशेष गुणों में निम्न चार प्रकार से अन्तर है -  
१. सामान्यगुण, नियम से जीवादि सर्व द्रव्यों में रहते हैं। जबकि विशेषगुण, मात्र अपनी-अपनी जाति के द्रव्यों में ही रहते हैं।

२. सामान्यगुण से प्रत्येक द्रव्य की सिद्धि होती है। जबकि विशेषगुण से द्रव्यों में जातिभेद सिद्ध होता है।

३. यदि सामान्य गुण न हों तो जीवादि कोई द्रव्य ही न रहे। जबकि यदि विशेषगुण न हों तो सर्व द्रव्य मिलकर एकमेक हो जाएँ।

४. सामान्यगुण, द्रव्य-सामान्य के लक्षण होते हैं। जबकि विशेषगुण, पृथक्-पृथक् द्रव्यों के लक्षण बनते हैं। जैसे - द्रव्य का लक्षण तो अस्तित्व है; जबकि जीवद्रव्य का लक्षण ज्ञान-दर्शन है।

१३६. प्रश्न - सामान्य व विशेष गुणों में कौन अधिक हैं?

उत्तर - दोनों अनन्त-अनन्त हैं, कोई अधिक नहीं, कोई कम नहीं।

१३७. प्रश्न - सामान्य व विशेष गुणों में संज्ञा संख्या आदि आठ अपेक्षाओं से भेदाभेद दर्शाइए।

उत्तर - संज्ञा, संख्या आदि अपेक्षाओं से सामान्य और विशेष गुणों में भेदाभेद निम्नप्रकार हैं -

१. 'संज्ञा' की अपेक्षा दोनों में भेद है; क्योंकि दोनों के नाम भिन्न-भिन्न हैं। एक का नाम सामान्यगुण है और दूसरे का नाम विशेष गुण है।

२. 'संख्या' की अपेक्षा दोनों में भेद है; क्योंकि दोनों की संख्या अनन्त-अनन्त है।

३. 'लक्षण' की अपेक्षा दोनों में भेद है; क्योंकि दोनों के लक्षण भिन्न-भिन्न हैं।

४. 'प्रयोजन' की अपेक्षा दोनों में भेद है; क्योंकि सामान्यगुण से द्रव्यसामान्य की सिद्धि होती है और विशेषगुण से द्रव्यविशेष की सिद्धि होती है।

५. 'द्रव्य' की अपेक्षा दोनों में भेद है; क्योंकि दोनों के आश्रयभूत द्रव्य एक हैं।

६. 'क्षेत्र' की अपेक्षा दोनों में भेद है; क्योंकि दोनों ही अपने-अपने द्रव्य के सर्व भाग (प्रदेश) में रहते हैं।

७. 'काल' की अपेक्षा दोनों में भेद है; क्योंकि दोनों गुण, द्रव्य की सर्व अवस्थाओं में रहते हैं अर्थात् त्रिकाली हैं।

८. 'भाव' की अपेक्षा दोनों में भेद है; क्योंकि दोनों के लक्षण भिन्न-भिन्न हैं।

१३८. प्रश्न - छह सामान्य गुणों के क्रम का सार्थक्य दर्शाइए?

उत्तर - अस्तित्वादि छह सामान्य गुणों के क्रम की सार्थकता निम्न प्रकार है -

१. अस्तित्वगुण - किसी पदार्थ का अस्तित्व होने पर ही अन्य-अन्य बातों की चर्चा प्रयोजनीय है, इसलिए 'अस्तित्वगुण' सबसे पहले है।

२. वस्तुत्वगुण - जो कोई वस्तु है, उसका कोई न कोई प्रयोजनभूत कार्य अवश्य होता है, अन्यथा वह वस्तु ही नहीं हो सकती है; इसलिए दूसरे स्थान पर 'वस्तुत्वगुण' है।

३. द्रव्यत्वगुण – यदि वस्तु में परिणमन ही न हो तो उसमें प्रयोजनभूत कार्य होना भी सम्भव नहीं है, इसलिए तीसरे स्थान पर 'द्रव्यत्वगुण' है।

४. प्रमेयत्वगुण – उक्त तीनों बातों की सिद्धि तभी हो सकती है, जब वह वस्तु, किसी न किसी के ज्ञान का विषय बन रही हो; इसलिए चौथे स्थान पर 'प्रमेयत्वगुण' है।

५. अगुरुलघुत्वगुण – परिणमन करते हुए अपने स्वतन्त्र अस्तित्व की रक्षा अवश्य होनी चाहिए, ताकि वह द्रव्य बदलकर, दूसरे द्रव्यरूप न हो जाए; अन्यथा सभी द्रव्य मिल-जुलकर एकमेक हो जाएँगे। इसी से पाँचवें स्थान पर 'अगुरुलघुत्वगुण' गुण को रखा गया है।

६. प्रदेशत्वगुण – यदि गुणों का कोई आधारभूत या आश्रय न हो तो वह द्रव्य ही रह नहीं सकता तथा आश्रयभूत वस्तु प्रदेशवान् ही होती है; इसलिए अन्त में 'प्रदेशत्वगुण' कहा गया है।

१३९. प्रश्न – कृपया अपने (जीवद्रव्य) में छह सामान्य व विशेषगुण घटित करके दिखाइए?

उत्तर – मुझ जीवद्रव्य में छह सामान्य गुण और विशेष गुण निम्नप्रकार से सिद्ध होते हैं।

१. मैं हूँ, यह मेरे अस्तित्वगुण के कारण है।
२. जानना-देखना मेरा प्रयोजनभूत कार्य है, यह मेरे वस्तुत्वगुण के कारण है।
३. मैं वर्तमान में प्रतिक्षण बालक से वृद्धत्व की ओर जा रहा हूँ या मेरे ज्ञानादि गुणों की अवस्थाएँ निरन्तर बदलती हैं, यह मेरे द्रव्यत्वगुण के कारण है।
४. मुझको, मैं स्वयं व आप सब जानते हैं, यह मेरे प्रमेयत्वगुण के कारण है।
५. मैं कभी भी बदलकर, चेतन से जड़ नहीं बन सकता, यह मेरे अगुरुलघुत्वगुण के कारण है।

६. मैं वर्तमान में मनुष्य की आकृति या संस्थानवाला हूँ, यह मेरे प्रदेशत्वगुण के कारण है।

इसी प्रकार ज्ञान-दर्शन आदि मेरे विशेषगुण हैं, यह सर्व प्रत्यक्ष है।

१४०. प्रश्न – सामान्यगुण अनन्त होने पर भी आप अस्तित्वादि छह सामान्यगुणों को ही मुख्य क्यों बता रहे हैं?

उत्तर – अस्तित्वादि छह सामान्यगुणों को मुख्य बताने के अनेक कारण हैं; उनमें से कुछ कारण आगे दे रहे हैं –

१. जिनधर्मकथित वस्तु-व्यवस्था का परम सत्य ज्ञान होता है और मैं जीवद्रव्य, किसी के उपकार से नहीं हूँ; परन्तु अनादिकाल से ही स्वतन्त्र हूँ एवं अनन्तकाल पर्यन्त स्वतन्त्र ही रहूँगा – ऐसा पक्का निर्णय होता है।
२. मोक्षमार्ग प्रगट करने का अभूतपूर्व पुरुषार्थ जागृत हो जाता है, जो हमें अपेक्षित है।
३. अस्तित्वादि सामान्यगुणों की यह एक खास विशेषता है कि इनका परिणमन अनादिकाल से कभी विभावरूप हुआ ही नहीं अर्थात् इनका परिणमन आज तक शुद्धरूप ही हुआ है और अनन्त भविष्यकाल में भी शुद्धरूप ही परिणमन होता रहेगा।
४. सामान्यगुणों का ज्ञान, भेदज्ञान के लिए अतिशय उपयोगी है।
५. समयसार आदि ग्रन्थों में शुद्धात्मा एवं द्रव्य-गुण-पर्याय की स्वतन्त्रता का जो जोरदार उद्घोष है, उसका परिज्ञान जनसामान्य को इन अस्तित्वादि छह सामान्यगुणों से ही होता है।  
मैं आपको अपने बारे में सत्य कहता हूँ कि मुझे ग्रन्थाधिराज समयसार का मर्म, जितना समयसार शास्त्र को पढ़ने से समझ में नहीं आया; उतना अस्तित्वादि सामान्यगुणों के ज्ञान से समझ में आया है – यह कहने में मुझे कोई संकोच नहीं है।  
यहाँ गुण-विवेचन २८ प्रश्नोत्तर के साथ पूर्ण होता है; अब आगे, अस्तित्व आदि छह सामान्यगुणों का क्रम से विस्तृत विवेचन प्रारम्भ करते हैं।

## अस्तित्वगुण-विवेचन

ब्र. गुलाबचन्दजी जैन (सोनगढ़) ने छह सामान्यगुणों के मर्म को पद्य शैली में अत्यन्त संक्षिप्त और विशिष्ट शब्दों में स्पष्ट किया है। वह पाठकों के लिए अत्यन्त उपयोगी होने के कारण हम प्रत्येक सामान्यगुण का वर्णन करने से पहले मङ्गलाचरण के रूप में एक-एक छन्द को प्रारम्भ में ही अर्थसहित दे रहे हैं -

॥ मङ्गलाचरण ॥

कर्ता जगत् का मानता जो, 'कर्म या भगवान को';  
वह भूलता है लोक में, अस्तित्वगुण के ज्ञान को।  
उत्पाद-व्यययुत वस्तु है, फिर भी सदा ध्रुवता धरे;  
अस्तित्व गुण के योग से, कोई नहीं जग में मरे ॥

इस जगत् में यदि कोई मनुष्य, किसी भगवान या कर्म को विश्व का कर्ता मानता है तो वह अस्तित्वगुण के ज्ञान को भूल जाता है। वास्तविकरूप से प्रत्येक द्रव्य उत्पाद-व्ययसहित होने पर भी अपने ध्रुव (नित्य) स्वभाव को कभी भी नहीं छोड़ता; इसीलिए इस अस्तित्वगुण के कारण से ही इस जगत् में कोई भी जीव मरता नहीं है। अतः प्रत्येक जीव अर्थात् वस्तु अविनाशी/अजर-अमर है। इस कारण मरणभय सहज ही टल जाता है।

१४१. प्रश्न - सामान्यगुण अनन्त होने पर भी केवल अस्तित्वादि छह गुणों को ही आप मुख्य क्यों बता रहे हैं?

उत्तर - अस्तित्वादि छह सामान्यगुणों की मुख्यता का प्रमुख कारण यह कि उनका यथार्थ ज्ञान करने से अनेक लाभ होते हैं ह

१. जिनधर्मप्रणीत वस्तु-व्यवस्था का परम सत्य ज्ञान होता है और मैं जीवद्रव्य, किसी के उपकार से नहीं हूँ; परन्तु अनादिकाल से ही स्वतन्त्र हूँ एवं अनन्तकाल पर्यन्त स्वतन्त्र ही रहूँगा - ऐसा पक्का निर्णय होता है।

२. मोक्षमार्ग प्रगट करने का अभूतपूर्व पुरुषार्थ जागृत हो जाता है, जो हमें अपेक्षित है।

३. अस्तित्वादि सामान्यगुणों की यह एक खास विशेषता यह है कि इनका परिणामन, अनादिकाल से कभी विभावरूप हुआ ही नहीं अर्थात् इनका परिणामन आज तक शुद्धरूप ही हुआ है और अनन्त भविष्यकाल में भी शुद्धरूप ही होता रहेगा।

४. सामान्यगुणों का ज्ञान भेदज्ञान के लिए अतिशय उपयोगी है।

५. समयसार आदि ग्रन्थों में शुद्धात्मा, द्रव्य-गुण-पर्याय की स्वतन्त्रता का जो जोरदार उद्घोष है, उसका परिज्ञान जनसामान्य को इन अस्तित्वादि छह सामान्य गुणों से ही होता है; अतः अब यहाँ क्रमशः अस्तित्वादि प्रत्येक सामान्यगुण का आगम तथा तर्क से विस्तारपूर्वक सुलभ रीति से कथन करते हैं।

१४२. प्रश्न - सामान्यगुणों में सबसे पहले अस्तित्वगुण का ही कथन क्यों किया जा रहा है? क्या कुछ विशेष कारण है?

उत्तर - १. जब तक वस्तु की सत्ता ही सिद्ध नहीं होगी, तब तक वस्तु-विषयक विचार करने की बात ही कहाँ से होगी? सबसे पहले तो वस्तु की सत्ता/उपस्थिति चाहिए, जिस पर विचार किया जा सके। अतः यहाँ सर्वप्रथम द्रव्य की सत्तासूचक अस्तित्वगुण का कथन किया गया है।

२. अज्ञानी जीव को अनादिकाल से ऐसी वासना बनी हुई है कि मैं किसी भी पुरानी वस्तु का नाश कर सकता हूँ तथा नवीन वस्तु भी उत्पन्न कर सकता हूँ - इस वासना का अभाव करना आवश्यक है।

इसी तरह हमने सृष्टि को उत्पन्न करने में कोई ईश्वर, सृष्टि को बनाये रखने और नाश करने में भी किसी अन्य भगवान सम्बन्धी मिथ्या मान्यता बना रखी है; उसके परिहारपूर्वक समाधान के लिए ही अस्तित्वगुण का ज्ञान कराया जा रहा है।



३. जीवादि द्रव्यों की अनादि-अनन्तता का ज्ञान कराने के लिए भी अस्तित्वगुण का प्रथम कथन करना आवश्यक है।

४. अज्ञानी मनुष्य को मरणभय का निराकरण करने के लिए तथा 'जीव' जन्म-मरण से रहित ही है - इसका सम्यक् बोध कराने के लिए अस्तित्वगुण का कथन सर्वप्रथम किया जा रहा है।

१४३. प्रश्न - जैसे, किसी को गालियों से भरा हुआ पत्र आया, पढ़कर वह दुःखी हुआ। तदनन्तर उसने उस पत्र को द्वेष से जलाकर भस्म कर दिया तो बताइये, उसने किसका नाश किया और किसका नहीं?

उत्तर - उसने निमित्तस्वरूप पत्ररूप पुद्गलमय पर्याय का नाश किया, पत्र में लिखे गये अक्षरों/वाक्यों का भी नाश किया, पत्र के आकार का भी नाश किया; तथापि उसने पत्र में विद्यमान पुद्गलमय परमाणुओं का नाश नहीं किया, उन पुद्गलों के स्पर्शादि गुणों का नाश नहीं किया। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि उसने पत्ररूप पर्याय विशेष का ही नाश किया है, पुद्गलद्रव्य और उसके गुणों का नाश नहीं किया है।

१४४. प्रश्न - अस्तित्व का क्या अर्थ है?

उत्तर - अस्ति + त्व = अस्तित्व। अस्ति = होना, उपस्थिति या सत्ता। त्व = पना अर्थात् उसरूप होना। संस्कृत भाषा में 'अस्' क्रिया-धातु है। उसके तृतीय पुरुष के एक वचन का रूप 'अस्ति' है। अस्ति शब्द का अर्थ 'है' है, यानि किसी की 'मौजूदगी' होती है।

१४५. प्रश्न - अस्तित्वगुण किसे कहते हैं?

उत्तर - जिस शक्ति के कारण द्रव्य का कभी नाश नहीं होता और वह द्रव्य, किसी से उत्पन्न भी नहीं होता, उसे 'अस्तित्वगुण' कहते हैं।

अस्तित्वगुण की परिभाषा में दो बातें मुख्य हैं - प्रथम तो विद्यमान द्रव्य का कभी नाश नहीं होता। दूसरे, कोई नवीन द्रव्य किसी से उत्पन्न भी नहीं होता। अस्तित्वगुण को और अधिक स्पष्ट समझने के लिए निम्न प्रकार भी उसे परिभाषित कर सकते हैं ह

'जिस शक्ति के कारण उपस्थित/विद्यमान द्रव्य का कभी भी नाश नहीं होता और नवीन/नया द्रव्य किसी से उत्पन्न नहीं होता, उसे अस्तित्वगुण कहते हैं।'

हमने नई परिभाषा में उपस्थित/विद्यमान, नवीन/नया द्रव्य शब्द जोड़े हैं, वे मूल परिभाषा में भी अप्रगटरूप से समाविष्ट हैं। हमने तो मात्र उन्हें जोड़कर विषय को स्पष्ट किया है।

१४६. प्रश्न - द्रव्य को सत् या सत्ता किन आचार्यों ने कौन-कौनसे ग्रन्थों में कहा है?

उत्तर - १. आचार्य कुन्दकुन्द ने पंचास्तिकाय शास्त्र की गाथा १० में कहा है - "जो सत् लक्षणवाला है; जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यसंयुक्त है अथवा गुण-पर्यायों का आश्रय है; उसे सर्वज्ञ भगवान 'द्रव्य' कहते हैं।"

२. पंचास्तिकाय शास्त्र की गाथा १० की टीका में ही आचार्य जयसेन ने द्रव्य का एक अर्थ 'द्रवित होता है अर्थात् प्राप्त होता है' - ऐसा किया है। तदुपरान्त 'द्रवति अर्थात् स्वभाव-पर्यायों को प्राप्त होता है और गच्छति अर्थात् विभाव-पर्यायों में गमन करता है। - ऐसा दूसरा अर्थ भी वहाँ किया गया है।

३. प्रवचनसार गाथा ९८ में कहा है - "द्रव्य, स्वभाव से सिद्ध और स्वभाव से ही 'सत्' है - ऐसा जिनेन्द्रदेव ने यथार्थतः कहा है; इसप्रकार आगम से सिद्ध है। जो इसे नहीं मानता, वह वास्तव में परसमय है।"

४. प्रवचनसार में ही गाथा ९९ में आया है - "स्वभाव में अवस्थित होने से द्रव्य, 'सत्' है। द्रव्य का जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यसहित परिणाम है, वह पदार्थों का स्वभाव है।"

५. आचार्य उमास्वामी ने तो तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ५ के सूत्र २९ में स्पष्ट शब्दों में सत्द्रव्यलक्षणम् अर्थात् 'द्रव्य का लक्षण सत् है' - ऐसा कहा है।

६. मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव ने नियमसार, गाथा ३४ की टीका में लिखा है - 'अस्ति' इत्यस्य भावः अस्तित्वम् अर्थात् 'पदार्थ का अस्ति (है, अस्तित्व, होना) - ऐसा भाव ही अस्तित्व है।'

आलापपद्धति आदि ग्रन्थों में भी यद्यपि 'सत्' विषयक कथन आया है, तथापि विस्तार-भय से उनके उद्धरण देने से विराम लेते हैं।

१४७. प्रश्न - 'मैं तुम्हारी सत्ता का ही नाश कर दूँगा' - ऐसी भावना रखने से कौन-सा पाप होता है? तथा कितने ज्ञानियों का विरोध होता है?

उत्तर - इस प्रश्न का संक्षेप में उत्तर निम्न प्रकार है -

१. मिथ्यात्वरूप पाप होता है; क्योंकि ऐसा मानने में वस्तुस्वरूप से विरुद्ध श्रद्धान होता है।

२. देव-शास्त्र-गुरु का भी अविनय हुआ; क्योंकि उनके उपदेश का स्वीकार नहीं करने से और तीव्र कषाय होने से सत्य उपदेश का विरोध होता है।

३. चौथे गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान पर्यन्त विद्यमान सब सम्यग्ज्ञानी साधक जीवों का - सम्यग्दृष्टि से लेकर अरहन्त व सिद्धों का भी विरोध होता है; क्योंकि इसमें ज्ञानीजनों के सम्यग्ज्ञान का विरोध होता है।

१४८. प्रश्न - अस्तित्वगुण को न मानने से मात्र द्रव्य के अभाव का प्रसंग आता है तो आवे, उससे हमारा क्या बिगाड़ है?

उत्तर - अस्तित्वगुण को न मानने से मात्र द्रव्य के अभाव की ही आपत्ति नहीं आती; परन्तु द्रव्य के अभाव के साथ-साथ अन्य भी अनेक प्रकार की आपत्तियाँ उपस्थित होती हैं, जो निम्न प्रकार हैं -

१. द्रव्य का अभाव होने पर विश्व के अभाव की भी स्थिति उत्पन्न हो जाती है; क्योंकि छह द्रव्यों के समूह को ही विश्व कहते हैं।

२. द्रव्य, जिन गुणों का समुदाय है या जिन गुणों से द्रव्य बना है, उन गुणों का भी अभाव हो जाता है।

३. गुणों का अभाव होते ही उनके कार्यरूप पर्यायों का भी अभाव अनिवार्य हो जाता है।

४. समस्त विश्व-व्यवस्था ही समाप्त हो जाती है।

५. हम-तुम कहाँ रहेंगे? अर्थात् सर्व शून्यता का प्रसंग उपस्थित हो जाता है।

१४९. प्रश्न - अस्तित्वगुण को जानने से हमें क्या-क्या लाभ प्राप्त होते हैं? उदाहरण के साथ सुलभरूप से स्पष्ट करें।

उत्तर - अस्तित्वगुण को जानने से अनेक लाभ प्राप्त होते हैं -

१. मनुष्य को ही नहीं, अपितु चारों गति में नारकी को छोड़कर प्रत्येक जीव को अपनी वर्तमानकालीन पर्याय के नाश का अर्थात् मरण का सदैव भय बना रहता है। नरक के नारकी भी मारणान्तिक वेदना निरन्तर भोगते हैं और स्वर्ग के देवों के मरणजन्य दुःख को हम-आप प्रत्यक्ष देख-जान नहीं सकते, इसके लिए तो हमें जिनागम ही प्रमाण है तथा मनुष्य और तिर्यचों के जन्म-मरण के दुःख तो हम प्रत्यक्षरूप से देख ही रहे हैं।

तिर्यचों के जन्म-मरण की चर्चा को हम यहाँ गौण कर देते हैं; क्योंकि हम तिर्यच नहीं हैं। वर्तमान भव में तो हम पर्याय की अपेक्षा मनुष्य जीव हैं; अतः मनुष्यों के ही दुःखों पर थोड़ा विचार/मनन/चिन्तन प्रगट करते हैं।

हमने माँ के गर्भ में ९ माह रहकर वहाँ शब्दातीत दुःख भोगा है। उसके पश्चात् इस जगत् में हमने जन्म लिया। इस जन्मजनित दुःख को भी हम प्राप्त पर्याय में मग्न होकर भूल ही गये, अतः जन्मजनित दुःख को भी हम गौण करते हैं। मात्र मनुष्य के मरण-विषयक दुःख पर विचार करते हैं -

कैसी विचित्र बात है कि मनुष्यभव में मरण का दुःख तो हम-सबको नियम से एक ही बार भोगना पड़ता है; किन्तु मरण का भय हमेशा/प्रत्येक समय, हम सबको बना ही रहता है।

अस्तित्वगुण को स्वीकार करते ही हमारा मरण-भय सदा के लिए निकल जाता है; क्योंकि अस्तित्वगुण को मानने पर हमें अपने अमरत्व का पक्का निर्णय हो जाता है।

हमारी लौकिक में बोलचाल की भाषा से भी जीव का अमरत्व स्पष्ट होता है। जैसे, हम दिन-रात बोलते हैं कि 'अमुक व्यक्ति मर गया' या 'गाय मर गई' और उसी समय हम कहते हैं कि 'जीव तो चला गया, मिट्टी यहीं पड़ी रह गई'; इससे जीव का अमरत्व सिद्ध होता है। वास्तव में जीव तो अनादि-अनन्त है, जन्म-मरण से रहित है। फिर मुझे मरण कहाँ? इसप्रकार मरण का भय सहज ही निकल जाता है।

२. मैं किसी की रक्षा नहीं कर सकता और न मेरी कोई रक्षा करने में समर्थ है तथा मैं किसी को मार नहीं सकता और न कोई मुझे मार सकता है - ऐसा विचार करने से अरक्षा का भय भाग जाता है।

कोई धनवान हो या दरिद्री, रोगी हो अथवा निरोगी, समाज में प्रसिद्ध हो या अप्रसिद्ध; लेकिन तत्त्वज्ञान से रहित मनुष्यों को संकट काल में तथा विशेषतया बुढ़ापे के समय मेरी सेवा कौन करेगा? मुझे सुरक्षित कौन रखेगा? - ऐसे विचार आते हैं। ऐसे व्यक्तियों को अस्तित्वगुण मानों वरदान ही है; क्योंकि जीवद्रव्य ही नहीं, अपितु सभी द्रव्य अनादिकाल से मात्र अस्तित्वगुण के कारण ही परम सुरक्षित हैं। अनादि से आज पर्यन्त संरक्षण की चिन्ता से व्यर्थ ही भयभीत/सन्त्रस्त जीव भी चाहे माने अथवा न माने, समझें या न समझें, पर वे सभी अस्तित्वगुणरूपी अभेद्य कवच से सदैव अत्यन्त सुरक्षित हैं।

जीव अथवा पुद्गल को अनेक लोगों ने नष्ट करने का प्रयास करके पाप ही कमाया है; किन्तु कोई उन्हें नष्ट नहीं कर पाया है। हाँ, पर्याय में कुछ बाधा या दुःख पहुँचाने के प्रयास से सामनेवाले में जो कुछ अच्छा-बुरा परिवर्तन होता हुआ देखने में आता है, वह पर्याय अपेक्षा सत्य होने पर भी द्रव्य की अनादिकालीन सत्ता में/अस्तित्व में कुछ भी बदलाव नहीं होता है।

१५०. शंका - बड़े-बड़े राजनेताओं की हत्या करके उनका अस्तित्व मिटाया जाता है, यह हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं; इसलिए आपकी बात हमें सत्यरूप प्रतीत नहीं होती; अतः हम क्या समझें?

समाधान - आपकी बात पर्याय अपेक्षा से तो सत्य है; क्योंकि जिस नेता आदि को लेकर मनुष्य को तीव्र द्वेष होता है और उस नेता व्यक्ति की उस पर्यायमात्र को नाश करने में वह निमित्त होता है। जैसे, श्रीमती इन्दिरा गांधी की हत्या करने से उनके प्रधानमन्त्रीत्व पद एवं उनकी स्त्री-पर्यायरूप मनुष्य अवस्था का नाश हुआ है; किन्तु श्रीमती इन्दिरा गांधी नामरूप स्त्री पर्याय का जिस समय नाश हुआ है, उसी समय उनका जीव क्या नष्ट हो गया है या उस जीव ने अन्यत्र कहीं जाकर जन्म ले लिया है?

इस प्रश्न पर यदि विचार करते हैं तो अस्तित्वगुण के कारण उत्तर यही मिलता है कि उस जीव ने किसी दूसरी जगह जाकर जन्म ले ही लिया है। अब आप ही बताइए कि 'जीवद्रव्य' सुरक्षित है या नहीं? अरे! जीवद्रव्य की सुरक्षा में तो कभी कुछ आँच आती ही नहीं है। यहाँ पर्यायदृष्टि से भी उस कार्य के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को अवश्य बताया जा रहा है, लेकिन यहाँ उन दुष्कृत्यों, हत्या, हिंसा आदि का समर्थन नहीं किया जा रहा है।

३. अस्तित्वगुण के कारण से पुनर्जन्म पर श्रद्धान होता है। प्रत्येक जीव अनादिकाल से विश्व में है और अनन्तकाल तक रहनेवाला भी है। मैं भी अनादिकाल से हूँ और अनन्तकाल तक रहूँगा। इसका अर्थ यह हुआ कि मैं मनुष्यरूप से जन्म लेने के पूर्व भी किसी अन्य अवस्था में था और अनन्त भविष्य में भी रहूँगा - ऐसा पक्का श्रद्धान होता है।

वर्तमानकाल में पुनर्जन्म की अनेक घटनाएँ सुनने को मिलती है। पुनर्जन्म मानना अन्धश्रद्धा नहीं है - यह विषय भी अत्यन्त स्पष्ट होता है। पुनर्जन्म के विषय को अनेक आचार्यों ने प्रथमानुयोग के ग्रन्थों में अपनी असीम अनुकम्पा से पात्र जीवों को समझाया है; अतः हमें प्रथमानुयोग के शास्त्र भी पढ़ना चाहिए।

इसप्रकार हमें यह पता चलता है कि यदि मैं मोक्षमार्ग प्रगट करूँगा तो मोक्ष प्राप्त करके अनन्तकाल तक मोक्ष में ही रहूँगा, किन्तु यदि मैं मोक्ष जाने का सर्वोत्कृष्ट पुरुषार्थ नहीं करूँगा तो संसार की चार गतियों में परिभ्रमण करना ही पड़ेगा।

४. आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने समयसार ग्रन्थ के बन्धाधिकार में जीवों को जिलाने और मारने के विकल्पों का आगमगर्भित युक्तियों के द्वारा विशेषरूप से खण्डन करते हुए स्पष्टीकरण किया है; उसे तत्त्व-जिज्ञासुओं को अवश्य पढ़ना चाहिए।

५. प्रत्येक जीव अनादि-अनन्त है, अतः इस विश्व को किसी ने बनाया है और कोई इसे नष्ट कर सकता है - ऐसी मिथ्या मान्यता मिट जाती है।

६. अस्तित्व की अपेक्षा सभी द्रव्य समान ही हैं; अतः उनमें विषमता का भाव स्वयमेव निकल जाता है।

वास्तव में देखा जाए तो अस्तित्व आदि अनन्त सामान्यगुण, सब द्रव्यों में समानरूप से विद्यमान रहते हैं। इतना ही नहीं - ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि विशेषगुण भी सभी जीवों में समानरूप से पाये जाते हैं। इस अपेक्षा से ही 'आलापपद्धति' नामक ग्रन्थ में ग्रन्थकर्ता ने ज्ञानादि गुणों को जीव के सामान्यगुणों में गर्भित किया है; अतः सभी मनुष्य समान हैं, कोई ऊँचा-नीचा नहीं है - यह विषय भी समझ में आता है।

वस्तुस्थिति तो एकेन्द्रिय से लेकर सैनी पन्चेन्द्रिय तक सभी जीव, सामान्य अपेक्षा से समान ही हैं - यह अनन्त सर्वज्ञ भगवन्तों द्वारा प्रतिपादित अनादिनिधन परम सत्य उपदेश है; अतः सर्व जीवों के प्रति समताभाव उदित होने से विषमता स्वयमेव ही निकल जाती है।

७. प्रत्येक द्रव्य का अस्तित्व स्वतन्त्र है - ऐसा ज्ञान होने से परद्रव्य में एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्वबुद्धि का सहज नाश हो जाता है।

द्रव्य, सत्स्वरूप है अर्थात् अस्तित्वगुण से सम्पन्न है; इसका अर्थ है कि द्रव्य अनादिनिधन, स्वयम्भू एवं स्वतन्त्र है। द्रव्य की स्वतन्त्रता स्वीकारने पर, द्रव्य में रहनेवाले गुणों को भी अनादिनिधन, स्वयम्भू एवं स्वतन्त्र स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है; क्योंकि गुणों से ही तो द्रव्य बना है तथा द्रव्य की स्वतन्त्रता में ही विश्व, अकृत्रिम सिद्ध होता है; क्योंकि द्रव्य के समूह को ही विश्व कहते हैं। द्रव्य और गुणों की स्वतन्त्रता के कारण ही उनमें होनेवाली पर्यायें भी पर की अपेक्षा से रहित सिद्ध हो जाती हैं।

पर्याय की इतनी विशेषता समझना आवश्यक है कि एक द्रव्य या उसके गुणों की पर्यायों के उत्पन्न होने के समय अन्य द्रव्य की पर्यायों पर अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता के निमित्तरूप व्यवहार का आरोप आता है; अतः पर्याय का कथन निमित्तसापेक्ष भी होता है, लेकिन एक द्रव्य की पर्याय को अन्य द्रव्य की पर्याय उत्पन्न करती है - ऐसा नहीं है; अतः सहज ही पर के कर्तृत्व-भोक्तृत्वपने का मिथ्याभाव नष्ट हो जाता है।

८. मैं किसी अन्य जीव को उत्पन्न नहीं कर सकता और मुझे भी किसी अन्य जीव ने उत्पन्न नहीं किया है - ऐसा स्वीकार करने पर अभिमान और हीनभाव का नाश होता है।

अन्य जीव को जन्म देने का भाव अभिमान का उत्पादक है। यथार्थ वस्तुस्वरूप का विचार करने पर कोई जीव किसी अन्य जीव को उत्पन्न कर ही नहीं सकता; क्योंकि प्रत्येक जीवद्रव्यस्वतन्त्र है।

माता-पिता, अपनी सन्तान के शरीर की उत्पत्ति में मात्र निमित्त हैं तथा वे भी शरीर की उत्पत्ति में मात्र निमित्त भी तब होते हैं, जब कोई जीव किसी अन्य गति से माता के पेट में स्वयमेव अपने पाप-पुण्य के अनुसार आता है; अतः मानकषायरूप अभिमान का भाव, अस्तित्वगुण को जानकर नहीं हो सकता।

मैं जीवद्रव्य किसी का उत्पाद्य हूँ अर्थात् किसी से मैं बनाया गया हूँ - ऐसा विचार होने पर हीनभाव/दीनता का भाव आना स्वाभाविक है। जिसने मुझे उत्पन्न किया है, उसके प्रति कृतज्ञ होना चाहिए - ऐसा विचार सहज ही उत्पन्न होता है, किन्तु वस्तुस्वरूप यह है कि मैं स्वयमेव ही सहज स्वयंसिद्ध हूँ, अतः दीनभाव/हीनभाव उदित भी नहीं हो सकता।

१५१. प्रश्न - अस्तित्वगुण की सिद्धि कैसे होती है?

उत्तर - १. पुनर्जन्म की अनेक घटनाएँ शास्त्र में पढ़ने को मिलती है।  
२. अभी वर्तमानकाल में भी अनेक लोगों से पुनर्जन्म की जानकारी मिलती है; इससे जीव के अस्तित्व की सिद्धि होती है।  
३. शरीर के परिवर्तन से भी हमें अस्तित्व की सिद्धि समझ में आती हैं। जो शरीर बचपन में छोटा रहता है; वही शरीर, क्रम से लम्बा-चौड़ा एवं बलवान होता जाता है।

४. कुछ विशिष्ट काल बीत चुकने पर युवावस्था का मोटा शरीर धीरे-धीरे क्षीण होता जाता है, लेकिन जन्म से मरणपर्यन्त एक ही शरीर रहता है, इससे उसकी नित्यता का ज्ञान होता है।

५. शरीर नष्ट होने पर भी जिनसे शरीर बना था, उन परमाणुओं का सर्वथा नाश तो होता ही नहीं, इससे पुद्गल की नित्यता भी समझ में आती है।

परमात्मप्रकाश शास्त्र में मुनिराज योगीन्दुदेव का कथन भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है; वे अधिकार १, गाथा ५६ में लिखते हैं -

“यह आत्मा किसी से भी उत्पन्न नहीं हुआ और इस आत्मा से भी कोई अन्य द्रव्य उत्पन्न नहीं हुआ। द्रव्य, स्वभाव से नित्य जानो, जबकि पर्यायभाव से विनाशीक है।”

इसप्रकार ‘अस्तित्वगुण’ का ११ प्रश्नोत्तर के साथ विवेचन पूर्ण होता है।

## वस्तुत्वगुण-विवेचन

॥ मङ्गलाचरण ॥

वस्तुत्वगुण के योग से हो, द्रव्य में स्व-स्व क्रिया;  
स्वाधीन गुण-पर्याय का ही, पान द्रव्यों ने किया।  
सामान्य और विशेषता से, कर रहे निज काम को;  
यों मानकर वस्तुत्व को, पाओ विमल शिवधाम को ॥

इस वस्तुत्वगुण के कारण ही प्रत्येक द्रव्य में हमेशा अपने-अपने स्वभाव के अनुसार कार्य होता रहता है; अतः सभी (अनन्तानन्त) द्रव्यों ने अपने-अपने गुण-पर्यायों का मानों रसपान ही कर लिया है। एक वस्तुत्वगुण के कारण ही द्रव्य, अपने-अपने सभी सामान्य अथवा विशेष कार्य करता है। इसतरह सत्यार्थ वस्तु-स्वभाव को जानकर/मानकर भव्य जीव ज्ञाता-दृष्टा होकर पावन शिवधाम को प्राप्त करें।

१५२. प्रश्न - अस्तित्वगुण के तुरन्त बाद वस्तुत्वगुण का कथन क्यों किया है? वस्तुत्वगुण को दूसरा क्रमांक देने में कोई कारण है क्या?

उत्तर - १. अस्तित्वगुण के कारण द्रव्य की सत्ता तो सिद्ध हो जाती है; परन्तु उससे द्रव्य के स्वभाव का पता नहीं चला; अतः प्रत्येक द्रव्य के स्वभाव का निर्णय करने के लिए वस्तुत्वगुण का कथन किया है।

२. मैं जीव, जानना-देखना छोड़कर अन्य कोई कार्य (जैसे, समाज का सुधार, देशोद्धार, शरीर को स्वस्थ रखना आदि) कर सकता हूँ - ऐसी अज्ञानी की विपरीत मान्यता दूर करने के लिए वस्तुत्वगुण का कथन किया जाता है।

३. जीव को अपनी जानन-देखनस्वरूप सीमा का ज्ञान कराने के लिए वस्तुत्वगुण का कथन किया गया है।

४. जीवादि प्रत्येक द्रव्य का अपना-अपना स्वतन्त्र स्वभाव अर्थात् कार्य है, कोई भी द्रव्य व्यर्थ अर्थात् बेकार नहीं है - ऐसा ज्ञान कराने के लिए अस्तित्व के पश्चात् वस्तुत्वगुण का कथन किया जा रहा है।

१५३. प्रश्न - वस्तुत्वगुण किसे कहते हैं?

उत्तर - जिस शक्ति के कारण द्रव्य में अर्थक्रियाकारिपना (प्रयोजन-भूतक्रिया) होता है, उसे वस्तुत्वगुण कहते हैं।

१५४. प्रश्न - अर्थक्रियाकारिपने से क्या आशय है?

उत्तर - प्रत्येक द्रव्य, अपने स्वभाव के अनुसार ही कार्य करता है अथवा द्रव्य में जो अपनी प्रयोजनभूत क्रिया होती है, उसे ही 'अर्थक्रियाकारिपना' कहते हैं।

इसप्रकार हम कह सकते हैं - जिस शक्ति के कारण प्रत्येक द्रव्य, अपने-अपने स्वभाव के अनुसार ही कार्य करता है अथवा प्रत्येक द्रव्य में जो अपनी प्रयोजनभूतक्रिया होती है, उस शक्तिविशेष को ही वस्तुत्वगुण कहते हैं।

१५५. प्रश्न - वस्तुत्वगुण के सम्बन्ध में आगम में कहाँ-कहाँ किन-किन शब्दों में कथन आया है?

उत्तर - वस्तुत्वगुण के सम्बन्ध में निम्न आगम-प्रमाण प्राप्त होते हैं -

१. आचार्य कुन्दकुन्दकृत समयसार शास्त्र की गाथा ७१ की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं - "इस जगत् में जो वस्तु है, वह (अपने) स्वभावमात्र ही है और स्व का भवन (होना) वह स्वभाव है; इसलिए निश्चय से ज्ञान का होना या परिणमना सो आत्मा है और क्रोधादि का होना परिणमना, सो क्रोधादि है।"

२. आचार्यश्री देवसेन विरचित आलापपद्धति शास्त्र के गुण-व्युत्पत्ति अधिकार के सूत्र ९५ में आया है - "वस्तुनो भावः वस्तुत्वं, सामान्य-विशेषात्मकं वस्तु अर्थात् वस्तु का जो स्वभाव अर्थात् सामान्य विशेषात्मक स्वभाव है, उसे वस्तुत्वगुण कहते हैं।"

३. "वस्तु का जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक अर्थक्रियाकारित्व है, उसे वस्तुत्व कहते हैं।"

४. कार्तिकेयानुप्रेक्षा में गाथा २२५ में आया है - "जो वस्तु

अनेकान्त-स्वरूप है, वही नियम से कार्यकारी है; क्योंकि लोक में अनेक धर्मयुक्त पदार्थ ही कार्यकारी देखा जाता है।"

१५६. प्रश्न - वस्तुत्वगुण के स्वरूप को उदाहरण देकर स्पष्ट कीजिए?

उत्तर - वस्तुत्वगुण अर्थात् प्रत्येक द्रव्य का स्वभाव के अनुसार कार्य करना, यह वस्तु का वास्तविक स्वरूप है।

जैसे - कोई वृद्ध व्यक्ति है, उसे आँखों से स्पष्ट दिखाई नहीं देता है; वह चश्मे के नम्बर को बदलते-बदलते परेशान हो जाता है। यदि वह कल्पना करे कि भविष्य में मुझे कानों से देखना और आँखों से सुनना सुखदायक होगा; जिससे मुझे चश्मे के नम्बर भी नहीं बदलने पड़ेंगे और अपना काम भी होता रहेगा; क्योंकि अपने पास कान भी दो हैं और आँखें भी दो। मात्र उनका काम बदलना है।

यहाँ आपसे प्रश्न है कि इस आँख-कान के काम को बदलने के विचारों से क्या आप सहमत हैं? क्या यह सम्भव है कि कोई मनुष्य कानों से देख सके अथवा आँखों से सुन सके?

आपका स्पष्ट उत्तर होगा कि यह नहीं हो सकता; क्योंकि प्रत्येक इन्द्रिय अपना-अपना ही काम कर सकती है। निमित्तरूप से आँखें, देखने का काम छोड़कर और कुछ नहीं कर सकती। कान, सुनने का काम छोड़कर और कुछ नहीं कर सकते। इसे हम इस प्रकार भी कह सकते हैं -

१. कानों (कर्णेन्द्रिय) का स्वभाव या कार्य 'शब्द सुनना' है।
२. आँखों (नेत्रेन्द्रिय) का स्वभाव या कार्य 'वर्ण देखना' है।
३. नाक (घ्राणेन्द्रिय) का स्वभाव या कार्य 'गन्ध सूँघना' है।
४. जीभ (रसनेन्द्रिय) का स्वभाव या कार्य 'रस चखना' है।
५. स्पर्शनेन्द्रिय का स्वभाव या कार्य 'स्पर्श जानना' है।

अर्थात् प्रत्येक इन्द्रिय का काम अपने स्वभाव के अनुसार पृथक्-पृथक् ही है; अतः हम विचार कर सकते हैं कि जहाँ पाँचों इन्द्रियों का काम अपने स्वभाव के अनुसार ही कार्य करने का है।

इसप्रकार जब लोक में सब वस्तुओं का स्वभाव भिन्न-भिन्न है तो जीवादि छहों द्रव्यों का स्वभाव भी भिन्न-भिन्न क्यों नहीं हो सकता?

अवश्य ही छह द्रव्यों का स्वभाव भिन्न-भिन्न ही है। अनन्त सर्वज्ञ भगवन्तों की इस सम्बन्ध में क्या आज्ञा है? हमें भी यह विषय तर्क और युक्तियों से किस प्रकार समझ में आ सकता है; यह विचारणीय है।

अत्यन्त अल्पबुद्धि मनुष्य को पाँचों इन्द्रियों के सर्व कार्य और स्वभाव जानने में आते हैं। पुद्गल के स्वभाव/लक्षण को आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ के अध्याय ५, सूत्र २३ में कहा है - 'स्पर्शरस-गन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः अर्थात् स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण गुणवाले पुद्गल होते हैं।'

क्या यह पुद्गलद्रव्य अपने लक्षण अर्थात् स्वभाव को छोड़कर कुछ अन्य काम कर सकता है? जैसे - टी.वी. को ही ले लीजिए, वह ब्लैक-एण्ड-व्हाइट हो या रंगीन, वह दर्शकों को उस पर प्रसारित होनेवाले चित्रादि को दिखाएगा ही, पर वह स्वयं कभी नहीं देख/जान सकता है; क्योंकि जिसका जो स्वभाव होता है, उसी के अनुसार वह कार्य करता है, अन्य प्रकार से नहीं।

इसीप्रकार फैक्स मशीन से देश-विदेश के पत्र, क्षणभर में छपकर सामने आ जाते हैं, पर वह मशीन उन पत्रों को पढ़ नहीं सकती, जान नहीं सकती; क्योंकि यह उसका स्वभाव ही नहीं है। ऐसे ही हमें टेप रिकार्डर आदि पुद्गलों पर घटाकर भी वस्तुस्वभाव को समझना चाहिए।

आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र के दूसरे अध्याय, सूत्र ८ में जीव का लक्षण/स्वभाव उपयोगो लक्षणम् कहा है। 'उपयोग अर्थात् ज्ञान-दर्शन जीव का लक्षण/स्वभाव है।' जीव, किसी भी अवस्था में हो, चार गतियों में हो अथवा पंचम गति 'सिद्ध' अवस्था में हो; वहाँ भी वह मात्र जानने-देखने का ही काम करेगा, अन्य काम - जैसे दुकान चलाना, कुटुम्ब का संचालन करना, देश का उद्धार करना, अपने शरीर को स्वस्थ रखना आदि कार्य कर ही नहीं सकता।

इतिहास हमारे सामने है। भारत में अनेक स्थानों पर मूर्ति-भंजकों ने भगवान आदिनाथ आदि तीर्थकरों की प्रतिमाओं को खण्डित किया है। एलोरा आदि ऐतिहासिक स्थानों पर भी मूर्ति-भंजकों ने तीर्थकर सर्वज्ञ

भगवन्तों की मूर्तियाँ तोड़ी हैं। क्या जिस समय वे मूर्तियाँ खण्डित/तोड़ी जा रही थी, उस समय उस दुष्कृत्य का ज्ञान, अनन्त सर्वज्ञ भगवन्तों को हुआ था या नहीं? अरे! उन्हें अनन्त काल पहले ही यह ज्ञान हो गया था कि इस समय यह कार्य होगा। यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होना भी स्वाभाविक है कि ऐसा अनिष्ट कार्य होता हुआ देखकर भी वे क्या कर रहे थे?

हमारा उत्तर है कि वे कुछ नहीं कर रहे थे।

पुनः १५७. प्रश्न उत्पन्न होता है कि कुछ नहीं कैसे?

इसका समाधान यह है कि अरे! वे सर्वज्ञ भगवान भी ज्ञानस्वभावी आत्मा हैं, अतः अपने स्वभाव के अनुसार जानने का काम अवश्य कर रहे थे।

पुनः १५८. प्रश्न उपस्थित होता है कि वे जानते हुए भी उन दुष्ट पुरुषों को ऐसा निन्द्य कार्य करने से रोक क्यों नहीं रहे थे? वे तो अनन्तवीर्य के धनी थे, अतः उन्हें तो रोकना चाहिये था। वे किसी अन्य व्यक्ति के अनिष्ट कार्य को भले ही न रोकें; पर अपनी तथा अपने समान अन्य तीर्थकर भगवन्तों की मूर्तियाँ तो उन्हें सुरक्षित रखना चाहिये था। अपनी ही मूर्तियों को सर्वज्ञ भगवान ने सुरक्षित क्यों नहीं रखा? - यह हमारी समझ में नहीं आता?

इस प्रश्न का भी यही उत्तर है कि भगवान अनन्त वीर्य के स्वामी होने पर भी वे अपने जानन-देखन स्वभाव की मर्यादा का उल्लंघन कैसे कर सकते हैं?

जैसे - भारत का प्रधानमन्त्री भी अपने देश में जो चाहे परिवर्तन कर सकता है, पर अन्य किसी भी देश के कार्यों में हस्तक्षेप करने का अधिकार प्रधानमन्त्री को भी नहीं है। इसीतरह एक जीवद्रव्य, पुद्गलादि पाँच अजीवों तथा अपने को छोड़कर, अन्य अनन्त जीवद्रव्यों में कुछ नहीं कर सकता है; क्योंकि यह उसके अधिकार क्षेत्र से बाहर की बात है।

ज्ञाता-दृष्टा रहना अर्थात् जानना-देखना ही जीव का अपना काम है; अन्य कुछ करना, उसका कार्य है ही नहीं। इमली खट्टी भी रहे और नमक के समान खारी भी हो जाए, यह कैसे सम्भव है? इसीप्रकार जीव, जानता-देखता भी रहे और घर-गृहस्थी तथा दुकान-मकान की व्यवस्था का काम भी करता रहे - यह सम्भव नहीं है।

१५९. प्रश्न - हम लौकिक-व्यवहारिक जीवन में प्रत्यक्ष देखते हैं कि अनेक व्यक्ति अपना दुकान-मकान का कार्य करते हैं। अनेक लोग सेवाभाव से अनेक संस्थाओं और देश-सेवा का कार्य भी करते हैं तो उन्हें करने दो, रोकते क्यों हो?

उत्तर - हम उन्हें रोकते कहाँ हैं? हम तो वस्तु-व्यवस्था का यथार्थ ज्ञान कराते हैं। भाई! कोई अपनी मनमर्जी से 'मैं सब काम कर सकता हूँ या कर रहा हूँ - ऐसी मिथ्या मान्यता करता रहे तो उसे कौन रोक सकता है?

गृहस्थ को अपने जीवन में विद्यमान रागवश कुछ कार्य करने का भाव आता है, उसका भी यहाँ निषेध करने का प्रयोजन नहीं है। हमें तो वस्तुत्वगुण की परिभाषा के परिपेक्ष्य में यह समझाना है कि जीव, अपने स्वभाव के अनुसार मात्र प्रयोजनभूत कार्य ही कर सकता है, अन्य नहीं। जीव का स्वभाव तो मात्र जानना है - इसकी मुख्यता से ही यहाँ कथन चल रहा है। आध्यात्मिक कवि डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल ने एक कविता में कहा है -

शुद्धात्म है मेरा नाम, मात्र जानना मेरा काम।

यह काव्यांश 'बालबोध पाठमाला' से लिया गया है; अतः यह बालकों के लिए है, प्रौढ़ों के लिए नहीं - ऐसा सोचना भी युक्तिसंगत नहीं है। यह तथ्य तो जिनागम के अनुसार 'अध्यात्म का प्राण' है। एक अपेक्षा से तो यह द्वादशांग अर्थात् सम्पूर्ण जिनेन्द्र वाणी का संक्षिप्त सार है।

कोई विषय, कदाचित् हमारी समझ में नहीं आता हो तो वह विषय ही असत्य है, यह तो नहीं कहा जा सकता। ऐसा कथन करना तो जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्ररूपित परम सत्य तत्त्व का सीधा विरोध करना है और जो निगोद का ही कारण है।

१६०. प्रश्न - वस्तुत्वगुण के कारण द्रव्य को क्या कहते हैं?

उत्तर - वस्तुत्वगुण के कारण से द्रव्य को 'वस्तु' कहते हैं।

१६१. प्रश्न - वस्तुत्वगुण को न मानने से क्या हानि है?

उत्तर - वस्तुत्वगुण को न मानने से द्रव्य के निरर्थकपने का अर्थात् कार्य-शून्यता का प्रसंग उपस्थित होता है।

१६२. प्रश्न - वस्तुत्वगुण को जानने से हमें क्या-क्या लाभ प्राप्त होते हैं?

उत्तर - वस्तुत्वगुण को जानने से हमें निम्न लाभ प्राप्त होते हैं -

१. प्रयोजनभूतक्रिया का अर्थ यह है कि प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने स्वभाव के अनुसार कार्य करता है। प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र है, उसमें उसका अपना पृथक् वस्तुत्वगुण है, उसके कारण वह द्रव्य निरन्तर अपना कार्य करता ही रहता है।

जैसे, कहीं घास पड़ी हो और वह सड़ रही हो तो वह सड़ना भी उसका वैभाविक स्वभाव है, उसे अनिष्ट जानना तो रागमिश्रित ज्ञान है। उसका सड़ना भी उसके पराश्रित वैभाविक स्वभाव की सार्थकता है तथा न सड़ते हुए सुरक्षित रहना भी स्वभाव के अनुसार ही है; इसप्रकार जगत का कोई भी पदार्थ निरर्थक नहीं है - ऐसा ज्ञान होता है।

२. ईश्वर के कर्तृत्व का निषेध हो जाता है; क्योंकि किसी भी एक द्रव्य में होनेवाला कार्य, किसी भी अन्य द्रव्य के कारण से नहीं होता। इसप्रकार प्रत्येक वस्तु के होनेवाले कार्य में पराधीनता का सर्वथा निषेध हो जाता है। इसप्रकार प्रत्येक द्रव्य की प्रयोजनभूत क्रिया, उसके वस्तुत्वगुण के कारण से होती है; अन्य किसी कारण से नहीं - ऐसे प्रत्येक वस्तु की स्वतन्त्रता का ज्ञान होता है।

३. अपने कार्य में पर की प्रतीक्षा या अपेक्षा का भाव, सहज ही छूट जाता है तथा अपना कार्य, स्वयं करने में उमंगपूर्वक उत्साह बढ़ता है।

४. जब जीव, किसी भी कार्य को इष्ट या अनिष्ट मानता है तो राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं; किन्तु वस्तुत्वगुण के कारण कोई भी कार्य इष्ट-अनिष्ट लगता ही नहीं है; परिणामस्वरूप समताभाव उत्पन्न होने से वीतरागता का प्रादुर्भाव होने लगता है।

५. जानना, जीव का स्वभाव है; स्वभाव, कभी दुःख का कारण हो ही नहीं सकता। स्वभाव तो सुख से परिपूर्ण रहता है - ऐसा पता चलता है। जैसे - जब हम कोई वस्त्रादि खरीदते हैं, तब यदि किसी मित्रादि के द्वारा उसे महंगा सौदा बताया जाए तो हमें खरीदा हुआ सामान महंगा लगने लगता है; तब हम सोचते हैं कि हमारा पैसा अनावश्यकरूप से अधिक खर्च हो गया, यह जानकर हमें दुःख होने लगता है; अतः जानना,



दुःख का कारण है - यह भ्रान्ति उत्पन्न होने लगती है। लेकिन वास्तव में देखा जाए तो जो अधिक पैसा खर्च होने से दुःख हुआ है, वह लोभ कषाय जागृत होने से हुआ है; परन्तु अज्ञानी, ज्ञान को ही दुःख का कारण मानने लगता है, जो सर्वथा असत्य है।

६. आत्मा के ज्ञाता-दृष्टापने की श्रद्धा करना ही सिद्धत्व-प्राप्ति का सच्चा कारण है। वस्तुस्वरूप के सत्य श्रद्धान को ही सम्यग्दर्शन कहा गया है। मैं जाननस्वभावी भगवान आत्मा हूँ, इसकी स्वीकृति होते ही मोक्षमार्ग का पथ प्रशस्त हो जाता है, इसी मार्ग पर चलना, यही तो सच्चा मोक्षमार्ग है और यही वास्तविक वीतरागता है।

जैसे - लौकिक जीवन में हम जानते हैं कि यदि किसी गरीब व्यक्ति को धनी बनना है तो वह विशिष्ट धनवान पुरुष की सेवा करता है तथा जिस विधि से धन कमाया जाता है, उसे सीखता है और उसी प्रकार से धन कमाने का प्रयत्न करता है तो उसे भी निश्चितरूप से धन की प्राप्ति होती है। इसी विधि से अनेक धनार्थी मनुष्यों को धन कमाने का कार्य करते-करते करोड़पति बनते हुए हम प्रत्यक्ष में देखते हैं।

इसीप्रकार यदि हम अरहन्त-सिद्ध बनने की भावना रखते हैं तो हमें भी जानना चाहिए कि वे किस विधि से अरहन्त-सिद्ध बने हैं, उस विधि को हमें अपनाना चाहिए। जैसे - अरहन्त-सिद्ध भगवान अनुकूल-प्रतिकूल परिवर्तनों को मात्र जानते-देखते हैं, राग-द्वेष नहीं करते; वैसे ही संसार अवस्था में रहनेवाले जीव को भी मात्र जानने का ही अपना प्रयोजनभूत कार्य (स्वभाव के अनुसार कार्य) करते रहना चाहिए तो निश्चित ही संसारी जीव भी क्रम-क्रम से प्रगति करते हुए अरहन्त-सिद्ध बने बिना नहीं रहे।

पुराणों के अनुसार गजकुमार मुनिराज, सुकमाल मुनिराज, सुकौशल मुनिराज आदि इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं।

१६३. प्रश्न - मुनि बनने पर तो 'मात्र जानना मेरा काम' - यह बात सत्य प्रतीत होती है; किन्तु गृहस्थ अवस्था में तो यह असम्भव है, यही समझना चाहिए न?

उत्तर - नहीं, नहीं; गृहस्थ जीवन में भी 'मात्र जानना मेरा काम' - ऐसी स्वीकृति असम्भव नहीं है। प्रथमानुयोग के ग्रन्थों में ऐसे श्रावकों के अनेक उदाहरण मिल जाएँगे, जिन्होंने 'मात्र जानना मेरा काम' स्वीकार करके प्रत्यक्ष दिखाया है। जैसे - सेठ सुदर्शन पर विषयासक्त रानी के कारण फाँसी पर चढ़ाये जाने का प्रसंग उपस्थित हुआ था, किन्तु सुदर्शन ने अपने प्राणों की भीख नहीं माँगी, वे तो मौन ही रहे थे। उन्होंने 'मात्र जानना मेरा काम' - ऐसे अपने आत्मस्वरूप को स्वीकारते हुए अपने सत्य श्रद्धान और धैर्य का परिचय दिया था। हाँ, पूर्व पुण्य के उदय से वह फाँसी का फन्दा, सुन्दर पुष्पहार बन गया था, यह पृथक् विषय है।

'मोक्षमार्गप्रकाशक' ग्रन्थ के रचयिता तथा क्रान्तिकारी विचारक पण्डितप्रवर टोडरमलजी ने भी राजा द्वारा हाथी के पैर से कुचलकर मारे जाने के आदेश पर भी 'मैं जाननस्वभावी आत्मा हूँ' - इस श्रद्धा का परिचय देते हुए अपने प्राणों की आहुति दी थी, क्षमायाचना नहीं की थी।

जैसे - रामायण में सीताजी की सुरक्षा हेतु लक्ष्मणजी ने लक्ष्मण-रेखा खींची थी और कहा था कि 'आप इस रेखा के बाहर मत जाना। रेखा के अन्दर आप पूर्ण सुरक्षित हैं, बाहर खतरा है' परन्तु सीताजी ने लक्ष्मण की बात न मानकर उसका उल्लंघन किया, परिणामस्वरूप उनके सामने खतरा उपस्थित हुआ और छद्मभेषी रावण के द्वारा उनका हरण कर लिया गया।

वैसे ही जब तक यह जीव 'मैं जाननस्वभावी हूँ' - इस सीमा में रहता है; तब तक उसे पर कर्तृत्व की वासना, मिथ्याभाव तथा आकुलता नहीं रहती। लेकिन अपनी जाननस्वभावी सीमा को पार करते ही यथार्थ/सम्यक् मतिरूपी सीता को अज्ञानरूप पर-कर्तृत्व-बुद्धि का रावण हरण कर लेता है और संसार-परिभ्रमणरूपी रामायण घटित हो जाता है; अतः 'मात्र जानना मेरा काम' - इस वस्तुत्वगुण के मर्म को अपने जीवन में उतारने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिए।

इस प्रकार 'वस्तुत्वगुण' का १२ प्रश्नोत्तर के साथ विवेचन पूर्ण होता है।

## द्रव्यत्वगुण-विवेचन

॥ मङ्गलाचरण ॥

द्रव्यत्वगुण इस वस्तु को, जग में पलटता है सदा;  
लेकिन कभी भी द्रव्य तो, तजता न लक्षण सम्पदा।  
स्वद्रव्य में मोक्षार्थी हो, स्वाधीन सुख लो सर्वदा;  
हो नाश जिससे आज तक की, दुःखदायी भव कथा ॥

‘द्रव्यत्व’ नामक सामान्यगुण, प्रत्येक वस्तु की पर्यायों को सदा बदलता/पलटता रहता है; लेकिन प्रत्येक वस्तु, प्रतिसमय बदलते हुए भी अपनी लक्षणरूपी सम्पदा का कभी त्याग नहीं करती; अतः प्रत्येक जीव को मोक्षार्थी होकर स्वद्रव्य में ही लीन होना चाहिए तथा अपना स्वाधीन सुख भोगना चाहिए; जिससे भव्य जीवों के अनादिकाल के संसारजनित दुःख का नाश होवे और अविनाशी अनन्त सुख की प्राप्ति होवे।

१६४. प्रश्न – द्रव्यत्वगुण के कथन की क्या आवश्यकता है?

उत्तर – द्रव्यत्वगुण का महत्त्व हम निम्न बिन्दुओं के माध्यम से समझ सकते हैं –

१. जीवादि छह द्रव्य अनादिनिधन होने से नित्य ही हैं; तथापि पर्याय की अपेक्षा से वे द्रव्य सतत बदलते रहते हैं अर्थात् नित्य द्रव्य, अनित्य पर्याय अंश के साथ ही रहता है; अतः वस्तु नित्यानित्यात्मक है – इस परम सत्य का ज्ञान कराने के लिए द्रव्यत्वगुण का कथन आवश्यक है।

२. वस्तु की परिणमनशीलता अर्थात् किसी भी वस्तु की स्थिति सदैव एक-सी नहीं रहती – यह स्पष्टतया समझने के लिए भी द्रव्यत्वगुण का विवेचन करना अति आवश्यक है।

३. मैं किसी भी वस्तु की अवस्था बदल सकता हूँ – इस मिथ्या मान्यता को दूर करने के लिए भी द्रव्यत्वगुण का कथन करना अनिवार्य है।

४. अपना हित-अहित मैं स्वयं ही करता हूँ, कोई ईश्वर या कर्मादिक नहीं – ऐसा सत्यार्थ ज्ञान कराने के लिए द्रव्यत्वगुण का ज्ञान करना अत्यन्त आवश्यक है।

१६५. प्रश्न – द्रव्यत्वगुण किसे कहते हैं?

उत्तर – जिस शक्ति के कारण द्रव्य की अवस्थायें निरन्तर बदलती रहती हैं; उसे द्रव्यत्वगुण कहते हैं।

१६६. प्रश्न – द्रव्य की अवस्थायें निरन्तर बदलती रहती हैं; इसका अर्थ तो यह हुआ कि द्रव्य नहीं बदलता, मात्र उसकी अवस्थायें ही बदलती हैं; इसलिए हमें प्रश्न उत्पन्न होता है कि द्रव्य और उनकी अवस्थायें क्या अलग-अलग रहती हैं?

उत्तर – नहीं, द्रव्य और उसकी पर्यायें कोई पृथक्-पृथक् नहीं रहती हैं – इसका स्पष्टीकरण आचार्य कुन्दकुन्द ने पंचास्तिकाय शास्त्र में किया है। तत्सम्बन्धी गाथा ११ एवं उसकी संस्कृत टीका का हिन्दी अनुवाद इसप्रकार है –

“द्रव्य का उत्पाद या विनाश नहीं है, सद्भाव है। उसकी पर्यायें ही विनाश, उत्पाद और ध्रुवता करती हैं।

यहाँ दोनों नयों के द्वारा द्रव्य का लक्षण विभक्त किया गया है। (अर्थात् दो नयों की अपेक्षा से द्रव्य-लक्षण के दो विभाग किये गये हैं।) सहवर्ती गुणों और क्रमवर्ती पर्यायों के सद्भावरूप त्रिकाल-अवस्थायी (त्रिकाल स्थित रहनेवाले), अनादि-अनन्त द्रव्य के विनाश और उत्पाद उचित नहीं हैं, परन्तु उसकी पर्यायों के – सहवर्ती कुछ (पर्यायों) का ध्रौव्य होने पर भी अन्य क्रमवर्ती (पर्यायों) के विनाश और उत्पाद होना घटित होते हैं; इसलिए द्रव्य, द्रव्यार्थिक-आदेश (द्रव्यार्थिकनय के कथन) से उत्पादरहित, विनाशरहित, सत् स्वभाववाला ही जानना चाहिए और वही (द्रव्य), पर्यायार्थिक-आदेश (पर्यायार्थिकनय के कथन) से उत्पादवाला तथा विनाशवाला जानना चाहिए – यह सब निरवद्य (निर्दोष, निर्बाध, अविरुद्ध) है; क्योंकि द्रव्य और पर्यायों का अभेद (अभिन्नपना) है।”

१६७. प्रश्न – फिर क्या द्रव्य और उसकी पर्यायें सर्वथा अभिन्न ही होती हैं?

उत्तर – ऐसा भी नहीं है। द्रव्य और उसकी पर्यायें, कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न होती हैं। अनन्त सर्वज्ञ जिनेन्द्र भगवन्तों द्वारा कथित वस्तु-व्यवस्था ही आश्चर्य और आनन्दकारी है। प्रत्येक द्रव्य नित्य रहते हुए भी बदलता है और बदलते हुए भी नित्य रहता है। वस्तु-स्वभाव ही नित्यानित्यात्मक है। जबकि द्रव्यार्थिकनय से नित्य अंश द्रव्य कहलाता है और पर्यायार्थिकनय से अनित्य अंश पर्याय।

जैसे – भगवान महावीर का जीव – पुरुरवा भील, मारीचि, शेर आदि की पर्यायों से अनित्य रहते हुए भी सर्व पर्यायों में जीव, जीवरूप से अखण्ड और नित्य ही रहा है। मनुष्य भी बाल, युवा, वृद्ध अवस्थाओं को प्राप्त करते हुए मनुष्यरूप ही रहता है। भगवान पार्श्वनाथ का जीव अपने पूर्व दसों भवों में और वर्तमान सिद्ध अवस्था में भी जीव ही है।

अनादि-अनन्त मात्र जीवपने को देखते हैं तो नित्यता ध्यान में आती है, इस नित्यता को जीवद्रव्य कहते हैं। जीव, जीवरूप में रहकर भी अनेक अवस्थाओं को प्राप्त करता रहता है, उन अवस्थाओं को ही पर्याय कहते हैं।

इसप्रकार द्रव्य और पर्यायों को एक साथ रहने में कोई बाधा नहीं आती। यह जो जीवादि द्रव्यों में अनेक अवस्थाओं का परिवर्तन/बदलाव चलता रहता है। यह परिवर्तनरूप कार्य, द्रव्यत्वगुण के कारण होता है; यही विषय यहाँ समझना है।

द्रव्यत्वगुण की परिभाषा में जो निरन्तर शब्द आया है, वह भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। निरन्तर अर्थात् बीच में अन्तर रहे बिना सदैव है। कुछ मिनिट या एक सैकेण्ड या समयमात्र के लिए भी अवस्था का बदलना रुकता हो – ऐसा नहीं है। सैकेण्ड से भी अतिसूक्ष्म काल समय

का है। 'समय' से कोई छोटा काल का विभाग होता ही नहीं है। समय-समय पर प्रत्येक अवस्था नियम से बदलती ही रहती है।

१६८. प्रश्न – पण्डितों के पण्डित श्री गोपालदासजी बरैया ने जैन सिद्धान्त प्रवेशिका में द्रव्यत्वगुण की जो परिभाषा दी है, वह क्या अन्य शास्त्रों में भी मिलती है?

उत्तर – हाँ, हाँ; क्यों नहीं मिलती? अनेक आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में द्रव्यत्वगुण का कथन किया है, जो निम्नानुसार है –

१. आचार्यश्री कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार गाथा ९ में कहा है –

जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो।

सुद्धेण तदा सुद्धो, हवदि हि परिणाम सब्भावो ॥

जीव, परिणामस्वभावी होने से जब शुभ या अशुभ भावरूप परिणामन करता है, तब शुभ या अशुभ होता है और जब शुद्धभावरूप परिणामित होता है, तब शुद्ध होता है।

२. प्रवचनसार गाथा १६४ के तृतीय चरण में 'परिणामादो भण्डिं' – ऐसा कहकर परिणामन स्वभाव अर्थात् द्रव्यत्वगुण बतलाया है। आचार्य अमृतचन्द्र और आचार्य जयसेन ने भी गाथा की टीका में परिणामनस्वभाव का स्पष्टीकरण किया है।

३. कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ की गाथा २१७ में स्वामी कार्तिकेय एवं उसकी उत्थानिका में पण्डित श्री जयचन्द्रजी छाबड़ा लिखते हैं – “परिणामन की शक्ति स्वभावभूत सब द्रव्यों में है। सब द्रव्य अपने-अपने परिणामन के उपादानकारण हैं।”

४. आचार्यश्री अमृतचन्द्र ने समयसार की टीका करते हुए कलश ५२ में लिखा है – “वस्तु एक ही सदा परिणामित होती है, एक के ही सदा परिणाम होते हैं और एक की ही परिणति (क्रिया) होती है; क्योंकि अनेकरूप होने पर भी वस्तु एक ही है, भेदरूप नहीं।”

५. समयसार गाथा ३७२ की टीका में भी आचार्य अमृतचन्द्र ने परिणामन-स्वभाव को उदाहरणसहित अच्छा स्पष्ट किया है।

६. आचार्य देवसेन ने आलापपद्धति ग्रन्थ के गुण-व्युत्पत्ति अधिकार के सूत्र १६ में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में बताया है - “द्रव्य का जो भाव, उसे द्रव्यत्व कहते हैं। जो अपने-अपने प्रदेशसमूह के साथ अपनी-अपनी स्वभाव-विभावपर्यायों के प्रति अन्वयरूप से द्रवण या गमन करता है, भविष्य में सदा गमन करेगा तथा भूतकाल में गमन करते हुए आया है; उसे द्रव्य कहते हैं। द्रव्य, त्रिकाल अवस्थायी होते हुए भी प्रतिसमय परिणामनशील हैं।”

१६९. प्रश्न - द्रव्यत्वगुण के कारण वस्तु को क्या कहते हैं?

उत्तर - द्रव्यत्वगुण के कारण वस्तु को ‘द्रव्य’ कहते हैं।

१७०. प्रश्न - द्रव्यत्वगुण को नहीं मानने से क्या हानि है?

उत्तर - द्रव्यत्वगुण को न मानने से द्रव्य के सर्वथा कूटस्थ/नित्य होने का प्रसंग आता है।

१७१. प्रश्न - द्रव्यत्वगुण को जानने से हमें क्या-क्या लाभ हैं?

उत्तर - सांख्यदर्शन नाम का एक मत है; उसके अनुसार द्रव्य सदा कूटस्थ है, नित्य ही है, उसमें कभी परिवर्तन नहीं होता।

देश-विदेश में रहनेवाले बुद्धअनुयायियों का बौद्धमत है; उनके अनुसार द्रव्य मात्र क्षणध्वंसी है, वह कभी नित्य हो ही नहीं सकता। इसप्रकार सांख्य और बौद्धमत में परस्पर अत्यन्त विरोध है।

१. इनके विरोध (सर्वथा क्षणिक एवं नित्य एकान्त) को मिटानेवाला जिनधर्म अर्थात् जैनदर्शन है। जिनेन्द्र भगवान का मत है कि द्रव्य तो नित्यानित्यात्मक है।

१७२. शंका - जैनदर्शन ने सांख्य तथा बौद्ध, दोनों मतों का मात्र समन्वय का कार्य किया है, केवल उन्हें मिलाकर अपनी बुद्धिमानी बताई है; इसमें जैनदर्शन का स्वतंत्र मत कहाँ रहा?

समाधान - नहीं भाई! ऐसा नहीं है। जैनदर्शन का मत अर्थात् अनन्त सर्वज्ञ भगवन्तों का मत; क्योंकि सर्वज्ञ भगवन्तों के ज्ञान में वस्तु

का जैसा स्वरूप ज्ञात हुआ है, वैसा ही वास्तव में वस्तुस्वरूप है और उन्होंने दिव्यध्वनि के माध्यम से वैसा ही बताया है। उस दिव्यध्वनि के अनुसार ही आचार्यों ने वस्तु-स्वरूप को लिपिबद्ध किया है; इसमें चतुराई/होशियारी अथवा समन्वय/समझौता करने की कोई बात नहीं है।

द्रव्य अर्थात् वस्तु का स्वभाव अनादिकाल से स्वयमेव ही नित्या-नित्यात्मक है। श्रावकाचार के प्रथम प्रणेता अथवा न्यायशास्त्र के प्रतिष्ठापक महान तार्किक आचार्य समन्तभद्र के शब्दों में वस्तु तो नित्यानित्यात्मक ही है, उसका निषेध करनेवाले हम कौन हो सकते हैं?

‘द्रव्य जैसा है, उसका वैसा ही कथन करना’ - यही जिनधर्म का मत है। सांख्य तथा बौद्ध, दोनों ही वस्तु के एक अंश का कथन करनेवाले होने से असत्य के प्रतिपादक हैं - ऐसा हमें पक्का निर्णय होना आवश्यक है।

द्रव्य की अवस्थाएँ बदलनेवाला - यह द्रव्यत्वगुण, सामान्यगुण होने से छह जातियों के द्रव्यों अथवा पृथक्-पृथक् अनन्तानन्त समस्त द्रव्यों में रहता है; अतः प्रत्येक द्रव्य में अपने-अपने द्रव्यत्वगुण के कारण ही परिवर्तन होता था, हो रहा है और होता रहेगा - ऐसी सत्य वस्तु-व्यवस्था समझ में आती है।

१७३. शंका - यदि किसी पदार्थ का कोई उपयोग न किया जाए तो वह जैसा है, वैसा ही अनन्तकाल तक रहेगा; उसमें परिवर्तन कहाँ हो रहा है?

समाधान - भाई! परिवर्तन (बदलाव) के बिना कोई वस्तु रहती नहीं है। मान लीजिए कि कोई बालक ७-८ वर्ष की उम्र में ही दाँतों से चबाकर खाना बन्द कर दे; रोटी, चना, मूँगफली आदि सभी पदार्थ मिक्सी में पीसकर या पानी अथवा दूध में गलाकर/पतलाकर निगलता रहे तो भी उसके दाँत विशिष्ट उम्र व्यतीत होने पर हिलने लगेंगे और समय पाकर गिर भी जाएँगे; क्योंकि दाँत, स्कन्धरूप पुद्गल हैं, उनमें भी द्रव्यत्वगुण है, इस कारण उनमें प्रतिसमय परिवर्तन होता ही रहता है। इसी कारण दाँत विशिष्ट उम्र बीत जाने पर हिलने लगते हैं, ढीले हो जाते हैं; अतः इस स्वाभाविक परिणामन को कौन रोक सकता है?

१७४. शंका - क्या अकृत्रिम जिन-मन्दिर और जिन-बिम्बों में भी परिवर्तन होता रहता है?

समाधान - हाँ, उनमें भी परिवर्तन होता ही रहता है; पर इतना विशेष समझना चाहिए कि उनमें होनेवाला परिवर्तन सदृश्य परिणमनरूप कहलाता है।

सादि-अनन्त ऐसे अनन्त सिद्ध भगवन्तों के जीवद्रव्य में भी प्रतिसमय परिवर्तन होता ही रहता है। द्रव्यत्वगुण, सामान्यगुण है अर्थात् वह सभी द्रव्यों में पाया जाता है। यदि एक बार हम इस व्यवस्था को स्वीकार कर लेते हैं तो हमारी सभी शंकाएँ दूर हो जाती हैं।

अनन्तानन्त सभी द्रव्यों में प्रतिसमय परिवर्तन तो होता ही होता है; उसमें कोई भी द्रव्य अपवाद रीति से भी छूट नहीं सकता। वस्तु-व्यवस्था में छूट कैसी? छूट लेना या देना तो रागवश किया जानेवाला कार्य है।

माता/बहिर्ने, रागवश अपने पास अनेक साड़ियाँ रखती हैं; उनमें से कुछ साड़ियों का उपयोग तो वर्ष में दो-तीन बार ही कर पाती हैं; फिर भी समय पाकर वे साड़ियाँ फटने लगती हैं। इसका कारण द्रव्यत्वगुण से होनेवाला परिणमन ही समझना चाहिए।

यह स्वीकार करने से परपदार्थों में कर्तृत्वबुद्धि का नाश हो जाता है। परपदार्थों में होनेवाला परिवर्तन, उस पदार्थ में स्थित द्रव्यत्वगुण के कारण ही होता है, मेरे कारण नहीं। इस तरह द्रव्यत्वगुण के निर्णय के कारण कर्ताबुद्धि का सहज ही अभाव हो जाता है।

कोई व्यक्ति, रसोई के उपयोग के लिए बड़ी कुल्हाड़ी के द्वारा किसी बड़ी लकड़ी के टुकड़े-टुकड़े करना चाहता है। देखनेवाली बात यह है कि यदि कुल्हाड़ी से लकड़ी के टुकड़े होते हों तो एक ही बार लकड़ी पर कुल्हाड़ी पटकने से लकड़ी के टुकड़े-टुकड़े हो जाना चाहिए, लेकिन ऐसा होता नहीं है। प्रथम बार कुल्हाड़ी पटकने पर तो मात्र सामान्य निशान बन पाता है। उसके पश्चात् उसी निशान पर बार-बार कुल्हाड़ी

पटकने पर लकड़ी में थोड़ी दरार बन जाती है। फिर वह व्यक्ति, उसी दरार में लकड़ी का खूँटा फँसा कर, उस पर पुनः पुनः कुल्हाड़ी पटकता रहता है - ऐसा करने पर मात्र लकड़ी के दो टुकड़े हो पाते हैं। ऐसा पुनः पुनः करने पर ही लकड़ी के टुकड़े-टुकड़े होते हैं।

लकड़ी के टुकड़े होने का कार्य लकड़ी के द्रव्यत्वगुण के कारण हुआ है, अन्य किसी से नहीं; क्योंकि लकड़ीगत परिवर्तन में कारण लकड़ी का द्रव्यत्वगुण ही है।

१७५. शंका - लकड़ी के टुकड़े होने का कार्य, व्यक्ति और कुल्हाड़ी के निमित्त से हुआ है - ऐसा कहने में आपको संकोच क्यों हो रहा है? निमित्त का कथन करने में आपको भय लगता है क्या?

समाधान - अरे भाई! निमित्त का कथन करने में न हमें कोई संकोच है, न भय; क्योंकि निमित्त का कथन तो सर्व ज्ञानियों ने सर्वत्र किया है। किसी भी कार्य के होने में निमित्त कारण तो होता है, उसे स्वीकार करना ही चाहिए। हम भी निमित्त को निमित्तरूप से स्वीकार करते ही हैं। पर भाई! यहाँ विषय द्रव्यत्वगुण का चल रहा है; अतः हम द्रव्यत्वगुण की मुख्यता से ही कथन करना चाहते हैं। जिसकी मुख्यता होती है, उसका कथन करना ही न्यायसंगत है।

२. दूसरी बात यह है कि सारे जगत् की दृष्टि निमित्त की मुख्यता करने की है। अनादिकाल से हम यह जानते आ रहे हैं कि कुल्हाड़ी के निमित्त से लकड़ी के टुकड़े-टुकड़े होते हैं, परन्तु यह संयोगदृष्टि है। संयोगदृष्टि में तो संसार ही खड़ा रहता है।

द्रव्यत्वगुण के कारण लकड़ी के टुकड़े होते हैं - यह कथन स्वभावदृष्टि का है। स्वभावदृष्टि से ही संसार का नाश होता है; अतः लकड़ी के टुकड़े होने के कार्य का मूल कारण द्रव्यत्वगुण को मानना ही उचित है।

३. लकड़ी के टुकड़े होने में कौन निमित्त है? ऐसा निमित्त की ओर से प्रश्न हो तो उत्तर में हम निमित्तों का ज्ञान कराने के लिए अवश्य कहेंगे

कि कालद्रव्य, लकड़ी के टुकड़े करनेवाला मजदूर, मजदूर को आज्ञा देनेवाला मालिक, कुल्हाड़ी, यह कार्य दिन में हो तो सूर्य का प्रकाश, रात्रि में हो तो बिजली का प्रकाश, जिस मकान में काम चल रहा हो वह मकान, जिस जमीन पर लकड़ी पड़ी हो वह जमीन, मजदूरी में व्यय होनेवाला धन, आदि सब निमित्त ही तो हैं; निमित्तों की कहाँ कमी है? किन्तु निमित्तों की महिमा और निमित्तों में उपादेयबुद्धि करने से तो मिथ्यात्व का ही पोषण होता है, धर्म होने का तो प्रश्न ही नहीं है।

४. द्रव्यदृष्टि से पराश्रित बुद्धि का नाश होता है। हम अपने में धर्म/रत्नत्रय प्रगट करना चाहते हैं तो अपने निज आत्मा के आश्रय के बल से ही अर्थात् केवल स्वावलम्बन से ही धर्म प्रगट कर सकते हैं - ऐसा विश्वास उत्पन्न होता है।

यदि अनुकूल निमित्त, चतुर्थकाल, सद्गुरु, शरीर की अनुकूलता, घर का अनुकूल वातावरण, अनुकूल पड़ोसी, योग्य उपदेशक, विशेष शास्त्रज्ञान, पर्याप्त धन आदि हों तो धर्म कर सकता हूँ - ऐसी पराश्रित मिथ्या बुद्धि का स्वयमेव अभाव हो जाता है।

५. मेरे पुण्यरूप, पापरूप अथवा वीतरागतारूप परिणमन का मैं स्वयं ही कर्ता हूँ। मेरे परिणामों की जिम्मेदारी मेरे ऊपर ही है। अन्य किसी विशिष्ट भगवान अथवा परवस्तु पर नहीं - ऐसा निर्णय होते ही मनुष्य, स्वयं ही अपने निज शुद्धात्मा के सन्मुख हो जाता है। जब मेरे सर्व कार्य मुझे ही करना है तो मैं किसके भरोसे मेरा काम छोड़ दूँ?

घर में अथवा किसी संस्था में एक काम की जिम्मेदारी अनेक लोगों पर हो तो काम समय पर नहीं होता और होता भी है तो अच्छा नहीं होता; क्योंकि कार्य करनेवाले व्यक्तियों की एकाग्रता उस कार्य के प्रति नहीं होती, अतः मनोयोग से कार्य नहीं करते। जब किसी एक काम की जिम्मेदारी किसी एक ही व्यक्ति पर हो तो वह उस काम को पूर्ण मनोयोगपूर्वक उत्तम से उत्तम करने का प्रयत्न करता है और कार्य श्रेष्ठतम होता है।

इसीप्रकार मेरा आत्मकल्याण मुझे ही करना है, मैं ही उसे कर सकता हूँ, अन्य नहीं - ऐसा निर्णय द्रव्यत्वगुण से होता है; अतः निर्णायक व्यक्ति को आत्मसन्मुख कार्य में बल आता है।

६. मोक्षमार्गप्रकाशक शास्त्र के सातवें अध्याय में आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी धर्म का स्वरूप समझाते हुए लिखते हैं - “जब तत्त्वज्ञान के अभ्यास से कोई पदार्थ इष्ट-अनिष्ट भासित न होते; तब स्वयमेव ही क्रोधादिक उत्पन्न नहीं होते, तब सच्चा धर्म होता है।”

क्रोधादिक उत्पन्न नहीं होते, इसका अर्थ - राग-द्वेष उत्पन्न नहीं होते - ऐसा समझना चाहिए। शास्त्र में क्रोध-मान को द्वेषरूप और माया-लोभ को रागरूप कहा है। हास्य, रति तथा तीनों वेदों (स्त्री-पुरुष-नपुंसक) को भी रागरूप और अरति, शोक, भय एवं जुगुप्सा को द्वेषरूप माना गया है।

जब कोई भी मनुष्य, द्रव्यत्वगुण के स्वरूप को यथार्थतः जान लेता है तो वह तत्त्वज्ञान का अभ्यासी हो जाता है एवं उसे राग-द्वेष उत्पन्न ही नहीं होते - ऐसा समझना चाहिए।

वर्तमान में कोई रोगी होता है तो उसे यह समझना आवश्यक है कि यह रोग-अवस्था हमेशा रहनेवाली नहीं है, निरोग-अवस्था भी अवश्य होगी। जो अभी निरोग है, उसे भी रोग-अवस्था आने की सम्भावना को स्वीकार करना अनिवार्य है। जो धनवान है, वह निर्धन हो सकता है; जो निर्धन है, वह भी धनवान हो सकता है - इन सबका कारण वस्तु की स्थिति सदा एक-सी नहीं रहती; क्योंकि द्रव्यत्वगुण के कारण प्रतिसमय परिवर्तन होते रहना वस्तु का स्वरूप ही है।

७. वर्तमान में अज्ञानी राग-द्वेष-मोह से दुःखी तो है ही; परन्तु उसे उसमें परिवर्तन करानेवाले द्रव्यत्वगुण का ज्ञान होते ही अपने दुःख के नाश होने की आशा अंकुरित हो जाती है।

विश्व की वस्तु-व्यवस्था जीव के हित में है - यह नियम आश्चर्य

तथा आनन्दकारी है। दुःखमय संसारदशा से मुक्त होने की व्यवस्था तो वस्तु के स्वरूप में है ही और सुखमय सिद्ध अवस्था का भी सादि अनन्तकाल तक चिरस्थायी रहने का नियम है। सुखमयी सिद्ध अवस्था से कोई जीव दुःखमयी संसार अवस्था में कभी आता ही नहीं है। इसकारण ही जैनदर्शन में किसी भगवान ने अवतार लिया हो, यह बात है ही नहीं।

संसार में अवतार लेने का कोई कारण भी नहीं रहता है; क्योंकि सिद्धालय में विराजमान सिद्धजीव को वहाँ कभी कोई कमी या आवश्यकता का अनुभव ही नहीं होता, जिसकी पूर्ति हेतु वे संसार में अवतार लेकर करें।

वास्तव में तो संसार से सिद्धालय में जाने का एक तरफा मार्ग (One way Traffic) है। संसार से सिद्धालय में जाने का मार्ग तो है, लेकिन सिद्धालय से संसार में आने का कोई मार्ग ही नहीं है।

८. किसी भी इष्ट-अवस्था को सुखदायक मानकर, उसमें स्थायीपने का भाव रखना ही पर्यायमूढ़ता है। द्रव्यत्वगुण को जानने पर पर्याय में स्थायीपने का भाव ही उत्पन्न नहीं होता; अतः पर्याय का यथार्थ ज्ञान तो होता ही है, पर दुःखदायक पर्यायमूढ़ता का सहज ही परिहार हो जाता है।

९. कर्म को बलवान मानने की खोटी मान्यता नष्ट हो जाती है। द्रव्यत्वगुण के ज्ञान बिना अज्ञानी जीव निमित्ताधीन दृष्टिवान बनकर यह मानता है कि क्रोधादिक कषाय-परिणामों को कर्म ही कराता है, कर्म ही मुझे दुःख दे रहा है - इस मान्यता से ही वह दुःखी होकर भ्रमित हो जाता है। जब वह वस्तुस्वरूप का यथार्थ निर्णय ही नहीं कर पाता तो धर्म कहाँ और कैसे कर सकता है?

द्रव्यत्वगुण के कारण क्रोधादि विकारी परिणाम भी जीव का कार्य है और वह अपराध भी जीव का ही है - ऐसी यथार्थ मान्यता होने पर कर्म के बलवानपने का मिथ्याभाव सहज ही निकल जाता है और स्वावलम्बन का यथार्थ पुरुषार्थ जागृत होता है।

इसप्रकार 'द्रव्यत्वगुण' का ११ प्रश्नोत्तर के साथ विवेचन पूर्ण होता है।



## प्रमेयत्वगुण-विवेचन

॥ मङ्गलाचरण ॥

सब द्रव्य गुण प्रमेयत्व से, बनते विषय हैं ज्ञान के;  
रुकता न सम्यग्ज्ञान पर से, जानिये यों ध्यान से।  
आत्मा अरूपी ज्ञेय निज, यह ज्ञान उसको जानता;  
है स्व-पर सत्ता विश्व में, सुदृष्टि उनको मानता ॥

प्रत्येक द्रव्य में अनादिकाल से प्रमेयत्व नाम का एक सामान्य गुण है। इस गुण से ही सभी द्रव्य-गुण-पर्याय, ज्ञान के ज्ञेय (विषय) बनते हैं। किसी भी परद्रव्य के निमित्त से जीव का सम्यग्ज्ञानरूपी कार्य बाधित नहीं होता - यह साधक को अच्छी तरह जानना/स्वीकारना चाहिए। अपना अरूपी आत्मा भी प्रमेयत्वगुण के कारण ही ज्ञान का ज्ञेय बनता है। इसी गुण के कारण सम्यग्दृष्टि जीव, विश्व में स्थित स्व-पर पदार्थों की सत्ता को स्वीकार करता है।

१७६. प्रश्न - प्रमेयत्वगुण के कथन की क्या आवश्यकता है?

उत्तर - हमें प्रमेयत्वगुण को जानने की क्या आवश्यकता है? - यह निम्न बिन्दुओं से स्पष्ट परिलक्षित हो जाता है -

१. रूपी होने से मात्र पुद्गलद्रव्य ही ज्ञेय हों - ऐसी बात नहीं है। प्रमेय होने से अरूपी जीव आदि पाँच द्रव्य भी ज्ञेय हैं - यह बात स्पष्ट होती है।

२. जीव अर्थात् मेरा, बाकी सभी द्रव्यों से मात्र ज्ञाता-ज्ञेय सम्बन्ध ही है; अन्य कोई कर्ता-कर्म आदि सम्बन्ध नहीं है - यह विषय भी सहजरूप से अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है।

३. ज्ञाता सम्यग्दृष्टि जीव, अपने को स्वज्ञेय बनाकर, आत्मानुभवी हो सकता है - यह बात सहज समझ में आ जाती है।

४. जब जीव, निज शुद्धात्मा को ध्यान का ध्येय बनाता है, तब ही धर्म उत्पन्न होता है; पंच परमेष्ठी के ध्यान से भी नहीं – इस यथार्थ बात का ज्ञान कराने तथा मोक्षमार्ग उत्पन्न कराने के लिए प्रमेयत्वगुण का ज्ञान विशेषरूप से उपयोगी है, जो सम्यग्दर्शन की प्राप्ति की प्रेरणा देनेवाला है।

५. अणुव्रत या महाव्रत स्वीकारने से ही आत्मानुभव होता है; इस मान्यता का भी स्वयमेव खण्डन हो जाता है। जैसे, राजा श्रेणिक आदि के उदाहरण शास्त्रों में मिलते हैं। नरकगति एवं देवगति में तो व्रतों का अभाव नियम से ही रहता है, फिर भी वहाँ असंख्यात जीव आत्मानुभवी सम्यग्दृष्टि पाये जाते हैं।

१७७. प्रश्न – प्रमेयत्वगुण किसे कहते हैं?

उत्तर – जिस शक्ति के कारण द्रव्य, किसी न किसी ज्ञान का विषय हो अर्थात् ज्ञेय हो, उसे प्रमेयत्वगुण कहते हैं।

१७८. प्रश्न – किसी न किसी ज्ञान का विषय/ज्ञेय हो तो क्या ज्ञान भी अनेक होते हैं? यदि ज्ञान अनेक होते हैं तो उन्हें नाम सहित बताइए।

उत्तर – देखो, आत्मा में ज्ञानगुण तो एक ही है, परन्तु उसकी पर्यायें अनेक हैं, उन्हें पाँच प्रकार से बताया गया है – १. मतिज्ञान २. श्रुतज्ञान ३. अवधिज्ञान ४. मनःपर्ययज्ञान और ५. केवलज्ञान।

१७९. प्रश्न – ज्ञान किसे कहते हैं?

उत्तर – जिससे जीव, ज्ञेयभूत पदार्थों को जानता है, वह ज्ञान है। पर्यायों की अपेक्षा वही ज्ञान, उक्त पाँच प्रकार का कहा गया है।

१८०. प्रश्न – ज्ञेय किसे कहते हैं?

उत्तर – ज्ञान जिसे जानता है, वह ज्ञेय है। जैसे – ज्ञान, घट को जानता है तो घट, ज्ञान का ज्ञेय हुआ। ज्ञेय को ही प्रमेय भी कहते हैं। इस जगत् में जीवादि अनन्तानन्त द्रव्य हैं। जीवादि द्रव्यों में रहनेवाले अनन्तानन्त गुण हैं, उन गुणों की अनन्तानन्त पर्यायें हैं। इसप्रकार सर्व द्रव्य, सर्व गुण और सर्व पर्यायें ज्ञान के ज्ञेय अर्थात् प्रमेय हैं।

१८१. प्रश्न – ज्ञाता किसे कहते हैं?

उत्तर – जो जानता है, वही तो ज्ञाता है। विश्व में अनन्त जीवद्रव्य हैं, वे जानते हैं; अतः वे सभी ज्ञाता हैं।

१८२. प्रश्न – ‘प्रमेयत्व’ शब्द का क्या अर्थ है?

उत्तर – प्र = विशेषरूप से, मेय = जानने में आने योग्य, त्व = भाव (योग्यता)। इसप्रकार प्रमेयत्व शब्द का अर्थ हुआ – विशेषरूप से जानने में आने की योग्यता।

१८३. प्रश्न – प्रमेयत्वगुण के कारण द्रव्य को क्या कहते हैं?

उत्तर – प्रमेयत्वगुण के कारण द्रव्य को ‘प्रमेय अथवा ज्ञेय’ कहते हैं।

१८४. प्रश्न – जीवादि छह द्रव्यों में ज्ञेयरूप द्रव्य कितने हैं एवं ज्ञातारूप द्रव्य कितने और कौन-कौन से हैं?

उत्तर – जीवादि सभी छह द्रव्य ‘ज्ञेय’ हैं; क्योंकि सभी द्रव्यों में ‘प्रमेयत्व’ नाम का गुण है, जबकि मात्र एक जीवद्रव्य ही ज्ञातारूप द्रव्य भी है।

१८५. प्रश्न – ज्ञेय और ज्ञातारूप द्रव्य कौन है?

उत्तर – केवल एक जीवद्रव्य ही ज्ञेयरूप भी है और ज्ञातारूप भी है।

१८६. प्रश्न – प्रमेयत्वगुण का कथन आगम में किन-किन ग्रन्थों में आता है?

उत्तर – आचार्यों ने अनेक ग्रन्थों में प्रमेयत्वगुण का कथन किया है। हम यहाँ संक्षेप में उनका विवरण प्रस्तुत करते हैं –

१. आचार्य कुन्दकुन्द ने ग्रन्थाधिराज समयसार की गाथा ३१९-३२० में अत्यन्त स्पष्ट एवं सुलभ शब्दों में दृष्टान्त के साथ कहा है – “अनेक प्रकार के कर्मों को न तो ज्ञानी करता ही है और न भोगता ही है; किन्तु उन पुण्य-पाप रूप कर्मबन्ध को और कर्मफल को मात्र जानता ही है।”

“जिसप्रकार दृष्टि (नेत्र), दृश्य पदार्थों को देखती ही है, उन्हें करती-



भोगती नहीं है; उसीप्रकार ज्ञान भी अकारक व अवेदक है तथा बन्ध, मोक्ष, कर्मोदय और निर्जरा को मात्र जानता ही है।”

२. समयसार कलश १९८ में भी यही विषय स्पष्टरूप से व्यक्त हुआ है - आचार्य कुन्दकुन्द ही प्रवचनसार गाथा २८ में लिखते हैं - “ज्ञान ज्ञेयों में प्रवेश नहीं करता और ज्ञेय भी ज्ञान में नहीं आते। जिसप्रकार रूपीपदार्थ नेत्र के ज्ञेय हैं; उसीप्रकार सभी पदार्थ ज्ञानस्वभावी आत्मा के ज्ञेय हैं; फिर भी वे ज्ञान और ज्ञेय, एक-दूसरे में प्रवेश नहीं करते।”

३. समयसार कलश २२२ में भी यह विषय आया है - “जिसप्रकार दीपक, दीपक से प्रकाशित होनेवाले पदार्थों से विक्रिया को प्राप्त नहीं होता; उसीप्रकार शुद्धबोध है महिमा जिसकी - ऐसा यह पूर्ण, एक और अच्युत आत्मा, ज्ञेयपदार्थों से किंचित्मात्र भी विक्रिया को प्राप्त नहीं होता। ऐसी स्थिति होने पर भी जिनकी बुद्धि इसप्रकार की वस्तुस्थिति के ज्ञान से रहित है - ऐसे अज्ञानी जीव अपनी सहज उदासीनता छोड़कर राग-द्वेषमय होते हैं - यह बड़े खेद की बात है, आश्चर्य की बात है।”

४. श्री कार्तिकेयस्वामी ने कार्तिकेयानुप्रेक्षा शास्त्र की गाथा २५६ में भी प्रमेयत्वगुण का खुलासा किया है - “ज्ञान जीव के प्रदेशों में रहता हुआ ही सबको जानता है। ज्ञान, ज्ञेय में नहीं जाता है और ज्ञेय भी ज्ञान के प्रदेशों में नहीं जाता है। अपने-अपने प्रदेशों में रहते हैं तो भी ज्ञान और ज्ञेय के ज्ञेय-ज्ञायक व्यवहार है। जैसे - दर्पण, अपने स्थान पर है और घटादिक वस्तुएँ अपने स्थान पर हैं तो भी दर्पण की स्वच्छता ऐसी है, मानो कि दर्पण में घट आकर ही बैठ गया हो - ऐसे ही ज्ञान-ज्ञेय का व्यवहार जानना चाहिए।”

इसीप्रकार नाटक समयसार, सर्वविशुद्धि अधिकार, छन्द ५३, आलापपद्धति, गुणव्युत्पत्ति अधिकार, सूत्र ९८; अनुभवप्रकाश, ज्ञेयाधिकार, पृष्ठ ६६ एवं समयसार, प्रवचनसार आदि ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर प्रमेयत्वगुण के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण आया है।

१८७. प्रश्न - प्रमेयत्वगुण को न मानने से क्या हानि होती है?

उत्तर - प्रमेयत्वगुण को न मानने से द्रव्य को अज्ञात मानना होगा, जिससे ज्ञान और ज्ञाता की भी सिद्धि नहीं होगी। यदि ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता का अभाव होगा तो सर्व शून्यता का प्रसंग आ जाएगा, जो प्रत्यक्षतः विरुद्ध है।

ज्ञेय और ज्ञाता की सिद्धि न होने से केवलज्ञानादि की भी सिद्धि नहीं होगी। जगत् में जो कोई ज्ञेय है, उसका कोई न कोई ज्ञाता अवश्य है। जैसे - रोगी की छाती का ‘एक्स-रे’ निकाला जाता है। उस समय यद्यपि रोगी को तो उस एक्स-रे से कुछ भी ज्ञान नहीं होता है; किन्तु डॉक्टर उस एक्स-रे को देखकर जो जानना चाहिए, वह सब जान लेता है।

हिन्दी भाषा-भाषी मनुष्य, तमिल और तेलगु आदि भाषाओं को नहीं जानते; किन्तु तमिलनाडु और आन्ध्रप्रदेश आदि के मनुष्य, उन भाषाओं को जानते ही हैं। तमिल-तेलगु भाषा, हमारे ज्ञान का ज्ञेय नहीं है; किन्तु उन भाषाओं को जाननेवालों को तो वह सहजरूप से ज्ञेय है।

जगत् में किसी भी अल्पज्ञ जीव के ज्ञान के जो विषय/ज्ञेय नहीं हैं, वे पदार्थ, सर्वज्ञ भगवान के केवलज्ञान के ज्ञेय तो बनेंगे ही बनेंगे; अतः प्रमेयत्वगुण के कारण कोई भी पदार्थ, ज्ञान से अज्ञात या अज्ञेय नहीं रह सकता।

इसीप्रकार आत्मा में प्रमेयत्वगुण को न मानने से होनेवाली कुछ बड़ी-बड़ी हानियाँ निम्नप्रकार हैं -

१. यदि आत्मा में प्रमेयत्वगुण को न माना जाए तो कोई भी जीव अपने को जान ही नहीं सकता।
२. यदि जीव, स्वयं को ही नहीं जान सकता तो वह आत्मज्ञानी कैसे बन सकता है?
३. यदि आत्मज्ञानी नहीं हो सकता तो न श्रावक हो सकता है और न मुनि; अतः मोक्षमार्ग का ही अभाव होने की आपत्ति आती है।

४. यदि मोक्षमार्ग ही नहीं रहता है तो मोक्ष भी सिद्ध नहीं होता है।
५. यदि मोक्ष सिद्ध नहीं होता है तो 'णमो सिद्धाणं' का मन्त्र भी अनुपयोगी सिद्ध हो जाता है।
६. इसी प्रकार मोक्षमार्ग सिद्ध नहीं होने से आचार्य, उपाध्याय, साधु आदि हमारे प्राणप्रिय गुरुओं की उपयोगिता भी सिद्ध नहीं होती।
७. जैन जगत में सर्वमान्य 'छहढाला' (पाँचवीं ढाल) में भी कहा है -  
'जब ही जिय आतम जाने, तब ही जिय शिवसुख ठाने'

इसप्रकार प्रमेयत्वगुण को स्वीकार करना अत्यावश्यक है।

१८८. प्रश्न - प्रमेयत्वगुण को जानने से हमें क्या-क्या लाभ प्राप्त होते हैं? यह विस्तारपूर्वक स्पष्ट करें।

उत्तर - प्रमेयत्वगुण को जानने से हमें अनेक लाभ प्राप्त होते हैं -

१. प्रत्येक जीव में प्रमेयत्वगुण होने से वह अपनी आत्मा को जान सकता है - ऐसा सहज विश्वास उत्पन्न होता है।

२. जो प्रमेयत्वगुण को यथार्थरूप से स्वीकार करता है, वह यह जान जाता है कि उसके पाप-कार्यों को अरहन्त-सिद्ध भगवान अपने केवलज्ञान में जान रहे हैं, जिससे उसे पाप-कार्यों को छोड़ने की भावना हुए बिना नहीं रहती, अतः अपने पाप-कार्यों को छोड़कर धर्म प्रगट करने के लिए उस जीव को अनुकूलता होती है।

जैसे - लौकिक जीवन में भी अपने बड़े-बूढ़ों तथा आदरणीय व्यक्तियों के सामने सामान्य अनुचित कार्य करने में भी मनुष्य को संकोच होता है तो फिर अनन्त केवलज्ञानियों के जानते हुए पाप-कार्य करने में स्वाभाविकरूप से शिथिलता आती है और जीवन सदाचारमय हो जाता है। यही सदाचारमय जीवन - स्वाभाविक, स्थायी और सुखदायक वीतरागी धर्म प्राप्त करने का निमित्त बनता है।

१८९. शंका - छिपकर किये गये पाप कोई नहीं जानता - इस कथन में कहाँ तक सत्यता है?

समाधान - इसमें सत्यता का अंश भी नहीं है; पाप करनेवाला स्वयं जीव है, वह तो अपने पाप को स्वयं जान ही रहा है तथा छिपकर कार्य करना भी स्वयं पाप है, अतः सामान्यतः पाप तो हो ही गया। इसप्रकार छिपकर किया गया पाप कोई नहीं जानता - यह विचार ही मिथ्यात्वजन्य तथा अज्ञानजन्य महापाप है; क्योंकि इसमें -

- अनन्त सर्वज्ञ भगवान का विरोध होता है।
- प्रमेयत्वगुण की मान्यता नहीं रहती है।
- अनन्त सिद्ध भगवन्तों एवं लाखों विद्यमान केवलज्ञान अरहन्त भगवन्तों के अस्तित्व की स्वीकृति नहीं होती है।
- अवधिज्ञानियों तथा मनःपर्ययज्ञानियों की सत्ता का भी निषेध हो जाता है।

इसप्रकार हमारे पाप-कार्यों को अरहन्त और सिद्ध भगवान जानते हैं - ऐसा ज्ञान होने से पाप छोड़ने की प्रेरणा मिलती है।

३. सभी द्रव्यों में प्रमेयत्वगुण पाया जाता है; अतः वे किसी न किसी ज्ञान द्वारा जाने जा रहे हैं; इसतरह केवलज्ञान की सिद्धि होती है।
४. 'अनन्त सिद्ध जीवों के समान मैं भी केवलज्ञानस्वभावी आत्मा हूँ। मेरे ज्ञानगुण में से अभी नहीं तो भविष्य में ज्ञानगुण की केवलज्ञानपर्याय अवश्य प्रगट होगी; जिससे मैं स्वयं अनन्तज्ञानी एवं अनन्तसुखी हो जाऊँगा' - ऐसा आत्मविश्वास उत्पन्न होता है।
५. परद्रव्यों के साथ मेरा मात्र ज्ञेय-ज्ञायकसम्बन्ध है, कर्ता-कर्म या भोग्य-भोक्ता या आदि सम्बन्ध नहीं है - ऐसा ज्ञान होने से परद्रव्यों के प्रति कर्तृत्व-भोक्तृत्वबुद्धि मिट जाती है।  
जैसे - मेरे हाथ में यह पेन है। यह छह द्रव्यों में कौनसा द्रव्य है - ऐसा पूँछने पर आपका सहज उत्तर होता है कि यह पुद्गलद्रव्य है; क्योंकि इसमें स्पर्शादि विशेषगुण हैं।

आपका यह उत्तर सही है, फिर भी मेरा यहाँ आपसे दूसरा प्रश्न है कि प्रमेयत्वगुण की अपेक्षा इस पेन को क्या कहते हैं? पेन में प्रमेयत्वगुण है या नहीं है? - ऐसा प्रश्न होने पर आप स्वीकार करते हैं

कि पेन में भी प्रमेयत्वगुण है - इस अपेक्षा से हम पेन को भी प्रमेय अर्थात् ज्ञेय कह सकते हैं।

यहाँ पुनः प्रश्न होता है कि यदि पेन प्रमेय/ज्ञेय है - यह बात सत्य है तो उस ज्ञेय की अपेक्षा हम-आप कौन हैं? इसका सहज उत्तर आता है कि हम इस ज्ञेय के ज्ञायक/ज्ञाता/प्रमाता/जाननेवाले हैं; अतः पेन ज्ञेय और हम ज्ञायक - ऐसे सहज ही ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है।

इसप्रकार स्वयं विचार करें कि प्रमेयत्वगुण की अपेक्षा यह पेन अच्छा है या अतिकष्ट से मैंने प्राप्त किया है या यह मेरा है या इसे मैं किसी को नहीं दूँगा; इत्यादि चिन्तन क्या यथार्थ हैं? अथवा यह पेन मात्र ज्ञेय है, - यह मान्यता यथार्थ है? जब प्रमेयत्वगुण की मुख्यता से सोचा जाए तो यह पेन मात्र ज्ञेय ही है, यही परम सत्य एवं सुखदायक तत्त्व-चिन्तन है।

वास्तव में यथार्थ रीति से देखा जाए तो संसार के सभी अनन्तानन्त द्रव्य ज्ञेय ही हैं और मैं मात्र इनका ज्ञाता ही हूँ। इस जगत् से मेरा मात्र ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है। कर्ता-कर्म या भोक्ता-भोग्य आदि अन्य कोई सम्बन्ध नहीं है। इसप्रकार हमें तत्त्व/सत्य का यथार्थ और सुखदायक निर्णय सहज हो जाता है।

६. प्रमेयत्वगुण के कारण पदार्थ ज्ञान में सहज ही ज्ञात होते हैं; अतः उनको जानने की आकुलता/ज्ञेयलुब्धता का भी नाश हो जाता है। जगत् में भी जो काम सहज निष्पन्न होता है, वह सुखदायक लगता है और जिस काम को करने में असहजता या कठिनाई होती है, वह दुःखदायक लगता है।

जगत् में प्रत्येक द्रव्य का परिणमन स्वतन्त्र है। जगत् के सभी पदार्थ अपने-अपने स्वभाव से ज्ञेय हैं, जानने में आने योग्य हैं तो वे पदार्थ अपने निश्चित क्रम में मेरे जानने में आएँगे ही; तो फिर मैं क्यों उनको जानने का भी बोझा ढोता फिरोँ? इसप्रकार प्रमेयत्वगुण के कारण विचारों की दिशा बदलती ही है और जीवन में सुख का स्रोत प्रवाहित होने लगता है।

७. प्रत्येक पदार्थ अपनी सीमा में रहकर ज्ञान का ज्ञेय बनता है - ऐसा जानने से ज्ञाता और ज्ञेय की भिन्नता का भेदज्ञान होता है।

यद्यपि अनन्त सिद्ध भगवान लोक के अग्रभाग में सिद्धालय में शान्ति से विराजमान हैं; तथापि वे किसप्रकार अनन्तानन्त पदार्थों को जानते हैं, इसका विचार प्रश्नात्मक शैली में करते हैं -

१. क्या वे सिद्ध भगवान, तीन लोक के अनन्तानन्त पदार्थों में प्रवेश करके उनको जानते हैं? २. क्या अनन्तानन्त ज्ञेयपदार्थ, सिद्ध भगवन्तों के ज्ञान में प्रवेश करते हैं? ३. क्या वे ज्ञेयपदार्थ, सिद्धों की आत्मा के पास पहुँचते हैं। ४. क्या अरहन्त-सिद्धों का केवलज्ञान, अनन्तानन्त ज्ञेयों तक पहुँचता है?

वास्तव में देखा जाए तो सिद्ध भगवान के ज्ञान में उक्त अनेक जिज्ञासाओं में से कुछ नहीं होता। सिद्धालय में तो सिद्ध भगवान अपने क्षेत्र में ही यथास्थान विराजमान रहते हैं। इसीप्रकार अनन्तानन्त ज्ञेयपदार्थ भी जहाँ - जैसे विराजमान है, उन्हें भी सिद्ध भगवान में प्रवेश करने की आवश्यकता नहीं है। सिद्ध भगवान का ज्ञान भी अपनी आत्मा में ही रहता है, बाहर कहीं नहीं जाता है और अनन्तानन्त ज्ञेयपदार्थ भी अपना स्थान छोड़कर सिद्धों तक नहीं पहुँचते हैं।

फिर भी सिद्ध भगवान के ज्ञान में सर्व पदार्थ दर्पण की तरह झलकते हैं। वस्तु का यह स्वतन्त्र परिणमन कैसा अद्भुत, अलौकिक, आश्चर्यकारी और आकर्षक है; इससे हमें ज्ञाता और ज्ञेय की भिन्नता का विशद ज्ञान होता है और स्वाभाविक शान्ति मिलती है।

१९०. प्रश्न - क्या दिगम्बर मुनि अथवा व्रती श्रावक होने पर ही आत्मा को जानना सम्भव है? क्योंकि उसके बिना आत्मा को जानना कैसे सम्भव है?

उत्तर - भाईसाहब! यह आप क्या सोच रहे हैं? दिगम्बर मुनि अथवा व्रती श्रावक हुए बिना क्या आत्मा को जानना सम्भव नहीं है? अरे! मुनि हुए बिना मुक्ति नहीं - यह बात तो सत्य है; परन्तु मोक्षमार्ग अथवा सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिए व्रती अथवा मुनि होना अनिवार्य नहीं है। आगम में चौथे गुणस्थानवर्ती अब्रती श्रावक को भी मोक्षमार्गी/सम्यग्दृष्टि/आत्मानुभवी माना है।

भगवान महावीर के समवसरण में ६० हजार प्रश्न पूँछनेवाले राजा श्रेणिक को क्षायिक सम्यग्दृष्टि श्रावकोत्तम संज्ञा दी गई है। सेठ सुदर्शन भी अपने गृहस्थ जीवन में अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या तथा पूर्णिमा के दिन में शमशान में सामायिक/आत्मध्यान करने के लिए जाते थे - इस बात को जैन जगत का बच्चा-बच्चा जानता है।

अरे भाई! मात्र मनुष्य ही क्या? तिर्यच भी चौथे-पाँचवे गुणस्थानवर्ती रहते हैं, उन्हें भी मोक्षमार्गी कहा जाता है; अतः स्वानुभवरूप कार्य के लिए व्रती या मुनि होने की कोई शर्त आवश्यक नहीं है। भगवान महावीर और भगवान पार्श्वनाथ के जीवों ने भी शेर तथा हाथी की पर्याय में सम्यग्दर्शन/आत्मानुभव प्राप्त किया ही था।

**१९१. प्रश्न - क्या सम्यग्दर्शन और स्वानुभव एक ही है?**

उत्तर - सम्यग्दर्शन और स्वानुभव एक तो नहीं है; क्योंकि सम्यग्दर्शन श्रद्धागुण की पर्याय है और स्वानुभव ज्ञानगुण की पर्याय है। कहीं-कहीं स्वानुभव को श्रद्धा, ज्ञान तथा चारित्र - इन तीनों गुणों की सम्मिलित पर्यायरूप अथवा अनन्त गुणों की अखण्ड पर्यायरूप भी बताया जाता है।

**१९२. प्रश्न - फिर आप यहाँ सम्यग्दर्शन और आत्मानुभव दोनों का एक ही अर्थ क्यों बता रहे हैं?**

उत्तर - हमने दोनों को एक नहीं बताया है, किन्तु सम्यग्दर्शन स्वानुभव के बिना उत्पन्न नहीं होता; अतः दोनों की एक साथ उत्पत्ति होने की मुख्यता से दोनों को एक कहा है - ऐसा समझना चाहिए।

ध्यान रहे - सम्यग्दर्शन तो प्रतीतिरूप है और वह सदैव रहता है, परन्तु वही सम्यग्दृष्टि जब निज शुद्धात्माभिमुख पुरुषार्थ करता है, तब स्वानुभव भी बीच-बीच में होता रहता है। यहाँ सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के लिए और उसको बनाये रखने के लिए स्वानुभव/स्वानुभूति/शुद्धोपयोग अनिवार्य ही है - इस बात को स्पष्ट करने के लिए ही सम्यग्दर्शन और आत्मानुभव को कथंचित् एक कहा गया है।

इसप्रकार 'प्रमेयत्वगुण' का १६ प्रश्नोत्तर के साथ विवेचन पूर्ण होता है। ●

## अगुरुलघुत्वगुण-विवेचन

॥ मङ्गलाचरण ॥

यह गुण अगुरुलघु भी सदा, रखता महत्ता है महा;  
गुण-द्रव्य को पररूप यह, होने न देता है अहा।  
निज द्रव्य-गुण-पर्याय सब, रहते सतत निज भाव में;  
कर्ता न हर्ता अन्य कोई, यों लखो स्व-स्वभाव में ॥

वस्तु-व्यवस्था में अगुरुलघुत्वगुण भी हमेशा ही बहुत बड़ा महत्त्व रखता है। यह गुण, वस्तुगत द्रव्य-गुण-पर्याय को अपने स्वभावरूप ही रखता है; अन्य स्वरूप होने नहीं देता। द्रव्यगत सर्व ही गुण एवं पर्यायें सतत् ही अपने-अपने स्वभाव में ही रहते हैं अर्थात् वे स्वभाव का उल्लंघन नहीं करते। इस अगुरुलघुत्वगुण के कारण ही कोई भी द्रव्य, अन्य किसी भी द्रव्य-गुण-पर्याय का कर्ता नहीं होता।

**१९३. प्रश्न - अब यहाँ अगुरुलघुत्वगुण का कथन क्यों किया जा रहा है?**

उत्तर - प्रत्येक द्रव्य परिणामन करते हुए अपने स्वरूप को छोड़कर क्या अन्य द्रव्यरूप हो जाता है? - इसतरह की शंका का निराकरण करने हेतु अगुरुलघुत्वगुण का कथन आचार्यों ने किया है, जो आवश्यक है; अन्यथा जीवादि सर्व द्रव्यों की अपना-अपना स्वरूप छोड़कर, अन्य द्रव्यरूप हो जाने की आपत्ति आ सकती है।

**१९४. प्रश्न - एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप परिणामित नहीं होता है, मात्र इतना ही सिद्ध करने के लिए अगुरुलघुत्वगुण का कथन किया जाता है या और भी कुछ प्रयोजन है? अगुरुलघुत्वगुण का स्वरूप स्पष्टरूप से बताइए।**

उत्तर - मात्र इतना ही नहीं, अन्य विषयों के स्पष्टीकरण के लिए भी अगुरुलघुत्वगुण का कथन किया जा रहा है। जैसे -

१. जीवादि किसी भी द्रव्य का कोई भी गुण उसी द्रव्य के अन्य गुण में भी कुछ भी परिणामन नहीं कर सकता है - इस परम सत्य एवं सूक्ष्म विषय को भी स्पष्ट करने का प्रयोजन है।

२. जीवादि सभी द्रव्यों में अनादि से रहनेवाले अनन्त गुण बिखर कर पृथक्-पृथक् नहीं हो जाते; इसलिए द्रव्य के अस्तित्व में कोई परिवर्तन नहीं होता; द्रव्य छोटा-बड़ा नहीं होता; द्रव्य जितना है, उतना ही रहता है; द्रव्य, स्वभाव से जैसा है, वैसा ही हमेशा रहता है - यह भी अगुरुलघुत्वगुण के कारण से स्पष्ट हो जाता है।

१९५. प्रश्न - अगुरुलघुत्वगुण किसे कहते हैं?

उत्तर - जिस शक्ति के कारण द्रव्य में द्रव्यपना कायम रहता है अर्थात् (१) एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप नहीं होता (२) एक गुण दूसरे गुणरूप नहीं होता और (३) द्रव्य में रहनेवाले अनन्त गुण बिखरकर अलग-अलग नहीं हो जाते, उसे अगुरुलघुत्वगुण कहते हैं।

१९६. प्रश्न - 'अगुरुलघुत्व' शब्द का क्या अर्थ है?

उत्तर - अ = नहीं, गुरु = बड़ा, लघु = छोटा, त्व = स्वत्व। अर्थात् प्रत्येक द्रव्य अपना स्वत्व/स्वरूप कायम रखता है, अपने में परिपूर्ण रहता है, कभी छोटा-बड़ा नहीं होता है।

१९७. प्रश्न - अगुरुलघुत्वगुण के सम्बन्ध में अन्य ग्रन्थों में भी ग्रन्थकार ने क्या कुछ कथन किया है?

उत्तर - अनेक ग्रन्थों में अगुरुलघुत्वगुण का कथन आया है, उसे हम यहाँ दे रहे हैं, जिससे आपके ज्ञान में निर्मलता तथा परिपक्वता आएगी -

१. आचार्यश्री देवसेन आलापपद्धति ग्रन्थ के गुणाधिकार में कहते हैं - अगुरुलघुत्वविकाराः स्वभावपर्यायाः ते द्वादशधा। षट्स्थानपतित-हानिवृद्धिरूपाः - १. अनन्तभागवृद्धिः २. असंख्यातभागवृद्धिः ३. संख्यातभागवृद्धिः ४. संख्यातगुणवृद्धिः ५. असंख्यातगुणवृद्धिः

६. अनन्तगुणवृद्धिः - इति षट्वृद्धिः तथा १. अनन्तगुणहानिः २. असंख्यातगुणहानिः ३. संख्यातगुणहानिः ४. संख्यातभागहानिः ५. असंख्यातभागहानिः ६. अनन्तभागहानिः - इति षट्हानिः। एवं षड्वृद्धि-हानिरूपा ज्ञेया अगुरुलघुत्वशक्तिः ॥ १७ ॥”

अर्थात् अगुरुलघुत्वगुण की पर्यायरूप स्वभावपर्यायें बारह प्रकार की हैं - षट्स्थानपतित हानि-वृद्धिरूप हैं। उनके नाम उक्त प्रकार से वर्णित षट्वृद्धि-षट्हानिरूप जानना चाहिए।

२. आचार्य देवसेन ही आलापपद्धति ग्रन्थ में गुणव्युत्पत्ति अधिकार में लिखते हैं - अगुरुलघोर्भावोऽगुरुलघुत्वम्। सूक्ष्मा वागगोचराः प्रतिक्षण-वर्तमाना, आगमप्रमाणादभ्युपगम्या अगुरुलघुगुणाः।

सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं, हेतुभिर्नैव हन्यते।

आज्ञासिद्धं तु तद्ब्रह्मं नान्यथावदिनो जिनाः॥

अर्थात् अगुरुलघुगुण के भाव को अगुरुलघुत्व कहते हैं। अगुरुलघुगुण सूक्ष्म हैं, वचन के अगोचर हैं, उनके सम्बन्ध में कुछ कहना शक्य नहीं है, वे प्रतिसमय प्रत्येक द्रव्य में वर्तमान रहते हैं और आगम-प्रमाण के द्वारा ही जाने जाते हैं। कहा भी है - 'जिन भगवान के द्वारा कहा गया तत्त्व सूक्ष्म है, युक्तियों से उसका व्याघात नहीं किया जा सकता, उसे आज्ञासिद्ध मानकर ही ग्रहण करना चाहिए; क्योंकि जिनदेव अन्यथावादी नहीं होते हैं अर्थात् जिनदेव के द्वारा कहे गये आगम को प्रमाण मानकर अगुरुलघुगुणों को स्वीकार करना चाहिए,

(- द्रव्यस्वभावप्रकाशकनयचक्र, आलापपद्धति, पृष्ठ २९१)

३. पाण्डे राजमलजीकृत पंचाध्यायी के अध्याय २, श्लोक १००९-१०१० में कहा है - कोई भी गुण, कहीं किसी दूसरे गुण में अन्तर्भूत नहीं होता। न एक गुण दूसरे गुण का आधार है, न आधेय है, न हेतु है और न हेतुमान् ही है; किन्तु सभी गुण अपनी-अपनी शक्ति के योग से स्वतन्त्र हैं और वे विविध प्रकार से अनेक होकर भी पदार्थ के साथ परस्पर में मिले हुए हैं।”

४. अगुरुलघुत्वगुण को समझने के लिए पण्डित श्री कैलाशचन्द्रजी द्वारा लिखित श्री जैन सिद्धान्त प्रश्नोत्तर माला भाग १, प्रश्न १२७-१२८, पृष्ठ ३९ का विषय, विशेष उपयोगी है; उसे हम यहाँ प्रस्तुत करते हैं -

१९८. “प्रश्न - क्या गुरु से ज्ञान, पुस्तक से ज्ञान अथवा चश्मे से ज्ञान होता है, आदि मान्यताएँ ठीक हैं?

उत्तर - बिल्कुल नहीं ! ज्ञान, ज्ञानगुण में से ही उत्पन्न होता है। गुरु, पुस्तक, अथवा चश्मे से ज्ञान होने की मान्यतावाले जीव को अगुरुलघुत्वगुण का सम्यग्ज्ञान नहीं है।

एक द्रव्य के अनन्त गुणों में से एक गुण, दूसरे गुण में नहीं जाता तो फिर भिन्न द्रव्य के गुण, दूसरे द्रव्य में कैसे जाएँगे? एक वस्तु का कोई भी गुण, दूसरी वस्तु को मिलता है अर्थात् गुरु का ज्ञान, शिष्य को प्राप्त होता है - ऐसी मान्यतावाला अगुरुलघुत्वगुण को नहीं मानता। तथा पर से आत्मा का और आत्मा से पर का कार्य हो तो द्रव्य बदलकर नष्ट हो जाए, लेकिन ऐसा नहीं होता; अतः गुरु, पुस्तक आदि से ज्ञान हुआ - ऐसी मान्यतावाले ने अगुरुलघुत्वगुण को नहीं माना।”

५. आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने भी समयसार की ४७ शक्तियों में १७वीं शक्ति का नाम ही अगुरुलघुत्वशक्ति रखा है।

१९९. प्रश्न - अगुरुलघुत्वगुण को न मानने से होनेवाली हानियों को विस्तार से समझाइए; क्योंकि वस्तुस्वरूप को समझने में हम किसी प्रकार की कमी नहीं चाहते।

उत्तर - अगुरुलघुत्वगुण न मानने से द्रव्य-गुण-पर्याय की स्वतन्त्रता के नाश का प्रसंग आता है तथा जैनदर्शन की प्रमुख विशेषता ‘वस्तु-स्वातन्त्र्य’ की मान्यता पर कुठाराघात होता है, जिससे द्रव्य में द्रव्यपना कायम रहता है, उसे अगुरुलघुत्वगुण कहते हैं। वास्तव में देखा जाए तो अगुरुलघुत्वगुण की मूल परिभाषा तो मात्र इतनी ही है, किन्तु ‘द्रव्य का द्रव्यपना कायम रहता है’ - इस मूल विषय का विस्तार निम्न तीन बिन्दुओं से किया जाता है -

(१) एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप नहीं होता है - इसके स्पष्टीकरण के लिए मान लीजिए कि कोई व्यक्ति - बुढ़ापा, बीमारी, रिश्तेदारों की उपेक्षा, आदि कारणों से अत्यन्त दुःखी है और वह इन दुःखों से मुक्ति पाने के लिए निरन्तर ‘मरण क्यों नहीं आता?’ - इसका विचार करता रहता है; लेकिन यदि वह दुःखी मनुष्य, अपना जीवत्व मिटाकर जड़ होना चाहे तो उसकी यह कामना कभी पूर्ण हो सकती है अथवा नहीं?

इसका उत्तर सहज ही तर्कज्ञान तथा प्रत्यक्षज्ञान के आधार पर यही होता है कि वह दुःखी मनुष्य, कभी भी जड़रूप परिवर्तित नहीं हो सकता है।

जैसे - दो सगे भाई भी यदि चाहें कि हमारा जीवन एक-दूसरे के सर्वथा समान हो जाए तो यह सम्भव नहीं है। इसी प्रकार जीवद्रव्य भी अन्य पुद्गलरूप कभी नहीं हो सकता तथा पुद्गल भी अन्यद्रव्य या जीवरूप नहीं हो सकता। यह वस्तु-व्यवस्था की स्वतन्त्रता का नियम है। इस प्राकृतिक कठोर अनुशासन से ही विश्व अनादिकाल से सुचारुरूप से चला आ रहा है।

यदि इसमें किसी कारणवश किंचित् भी शिथिलता आ जाए तो विश्व की सर्व व्यवस्था ही सर्वथा नष्ट हो जाए और मनुष्य का जीना, कठिन ही नहीं, अशक्य हो जाए।

(२) एक गुण, दूसरे गुणरूप नहीं होता है - इस कथन का विस्तृत विवरण इसप्रकार है - जैसे - पीला आम, सामान्यतः मीठा होता है, किन्तु उसे मीठा होना ही चाहिए - ऐसा सर्वथा नियम नहीं है। कभी-कभी पीला आम भी खट्टा निकल जाता है और हरा दिखनेवाला आम भी मीठा हो जाता है। यहाँ पीले रंग ने खट्टे रस को मीठा नहीं बनाया और हरे रंग ने रस को खट्टा बनाने का काम नहीं किया है।

इसीप्रकार जीवद्रव्य के श्रद्धागुण का क्षायिक सम्यक्त्वरूप निर्मल परिणाम (सिद्ध भगवान के सम्यक्त्व जैसा) होने पर भी चारित्रगुण के परिणामन में सम्यक्पना तो अवश्य होता है, परन्तु पाँचवें या छठवें-सातवें गुणस्थान के योग्य चारित्रगुण के परिणामन का विकास होना

आवश्यक नहीं होता है। यहाँ श्रद्धागुण की निर्मलता ने चारित्रगुण के विकास में कुछ भी हस्तक्षेप नहीं किया है - यह समझना आवश्यक है।

श्रद्धागुण के परिणमन की यह विशेषता होती है कि वह जब भी मिथ्यात्व से सम्यक्त्वरूप या सम्यक्त्व से मिथ्यात्वरूप परिणमित होती है, उसमें परिवर्तन की प्रक्रिया शीघ्र ही पूर्ण हो जाती है। वह क्रम-क्रम से परिणमन करते हुए धीरे-धीरे सम्यक्त्वरूप या मिथ्यात्वरूप नहीं होती। पहले समय में जो परिणमन मिथ्यात्वरूप है, वही बदलकर दूसरे समय में सम्यक्त्वरूप होता है। श्रद्धा के किसी भी परिणमन में क्रमशः धीरे-धीरे विकास करते हुए पूर्ण/शुद्ध होने का क्रम नहीं है।

चारित्रगुण के निर्मल परिणमन की स्वतन्त्रता ही कुछ अलग पद्धति की है। श्रद्धा सम्यक् रूप होते ही चारित्र भी उसी समय सम्यक्/यथार्थ होता है, यह बात तो सत्य है; पर चारित्र के परिणमन में सम्यक्पना होते ही तत्काल पूर्ण निर्मलता नहीं आती है। चारित्र के पूर्ण और निर्मल परिणमन के लिए विशिष्ट काल एवं क्रम अपेक्षित है।

इस कारण से ही प्रथम तो चारित्रगुण का परिणमन चौथे गुणस्थान में सम्यक् रूप होता है; फिर उस जीव को पंचम गुणस्थान प्राप्त होकर तो चारित्र एकदेश विकसित होता है; इसके पश्चात् प्रमत्त-अप्रमत्तरूप विशिष्ट चारित्र को मुनिराज प्रगट करते हैं; फिर अपूर्वकरण आदि उपरिम गुणस्थानों में चारित्र और भी क्रम-क्रम से अधिक अधिक विकसित होता हुआ यथाख्यातरूप होता है।

क्षीणमोही यथाख्यात क्षायिकचारित्ररूप अवस्था में अन्तर्मुहूर्त काल व्यतीत होने के पश्चात् केवलज्ञान के साथ वह क्षायिकचारित्र, परम-यथाख्यातरूप परिणमित होता है। इसके पश्चात् सिद्ध अवस्था में वह क्षायिक चारित्र, परिपूर्ण होकर वैसा ही वास्तविक और निर्मल सदाकाल बना रहता है।

इसप्रकार 'एक गुण, दूसरे गुणरूप नहीं होता' - यह नियम, श्रद्धागुण और चारित्रगुण के स्वतन्त्र परिणमन से समझ में आता है।

(३) द्रव्य में रहनेवाले अनन्त गुण बिखर कर अलग-अलग नहीं होते - इस बिन्दु को नहीं मानने से अनेक आपत्तियाँ सामने आती हैं। यदि किसी एक द्रव्य में से एक या दो गुण बिखरकर, अलग-अलग हो सकते हैं तो उस द्रव्य में रहनेवाले सभी अनन्त गुण बिखरकर, अलग-अलग क्यों नहीं हो सकते? लेकिन यदि द्रव्य के सभी गुण बिखरकर अलग हो जावें तो उस द्रव्य का अस्तित्व ही नष्ट हो जाए। यदि निकले हुए वे गुण जिन-जिन द्रव्यों में जाकर मिलेंगे, वे द्रव्य बड़े हो जाएँगे। इसतरह सम्पूर्ण वस्तु-व्यवस्था ही नष्ट हो जाएगी, जो कभी सम्भव नहीं है।

२००. प्रश्न - अगुरुलघुत्वगुण को न मानने से होनेवाली हानियों के दूसरे बिन्दु को और विस्तार से स्पष्ट कीजिए?

उत्तर - श्रद्धागुण का सम्यक्त्वरूप या क्षायिक सम्यक्त्वरूप परिणमन होते ही यदि चारित्रगुण के परिणमन में भी पूर्णता मानी जाए तो तत्काल सिद्धावस्था की प्राप्ति का प्रसंग आता है - ऐसा मानने पर अनेक आपत्तियाँ सामने आकर खड़ी होती हैं। जैसे -

१. चरणानुयोग की व्यवस्था ही नष्ट हो जाती है, जिससे छठे-सातवें गुणस्थानवर्ती आचार्य, उपाध्याय और साधु भी नहीं रहते हैं, फिर उनको आहार देनेरूप कार्य भी नहीं रहता है तो श्रावक संस्था भी नष्ट हो जाती है। क्योंकि न तो आहार देना सिद्ध होती है और न आहार लेना।

२. आहार देनेवाले पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक नहीं माने जाएँ तो अणुव्रत, गुणव्रत-शिक्षाव्रत कहाँ एवं कैसे संभव हैं? क्योंकि ये सब व्रत साधकदशा में ही होते हैं। यदि सम्यक्त्व होते ही सिद्धावस्था मान लें तो साधक की अत्रती-व्रती और देशव्रती-महाव्रती आदि अवस्थाएँ कैसे हो सकती हैं?

३. चौथा अविरतसम्यक्त्व गुणस्थान भी नहीं रहता है।

४. मात्र मिथ्यात्व गुणस्थान ही मानना होगा।

५. इसीप्रकार न श्रेणी सम्भव होगी और न श्रेणी के गुणस्थान। करणानुयोग का बहुभाग, जिसमें गुणस्थानों की परिभाषाएँ लिखी हैं, वे

अनावश्यक हो जाएँगी। क्योंकि मिथ्यात्व का अभाव होने पर सम्यक्त्व के साथ ही सिद्धावस्था हमने मान ली है; क्योंकि श्रद्धागुण की निर्मलपर्याय क्षायिक सम्यक्त्वरूप होने के पश्चात् ही चारित्र की निर्मलपर्याय में विकास, क्रम-क्रम से मानने पर ही सर्व गुणस्थान एवं श्रावक-साधु की सर्व अवस्थाएँ सम्भव हैं, अतः जिनवाणी भी चारित्र में क्रमिक विकास की पोषक है।

६. प्रथमानुयोग भी सिद्ध नहीं होता है; क्योंकि प्रथमानुयोग में सम्यक्त्व-प्राप्ति के पश्चात् विशेष पुण्य के कारण स्वर्ग, भोगभूमि, चक्रवर्ती, तीर्थकर आदि पदों की प्राप्ति बताई है; किन्तु सम्यक्त्व के साथ ही सिद्धावस्था मानने पर भोगभूमि, चक्रवर्ती, नारायण-प्रतिनारायण, बलभद्र, तीर्थकर आदि पदों का स्थान ही नहीं बनता है।

७. द्रव्यानुयोग भी सिद्ध नहीं होता है; क्योंकि श्रद्धागुण के सम्यक्त्वरूप परिणमन के साथ ही चारित्रगुण का पूर्ण निर्मल परिणमन मान लिया है, जो द्रव्यानुयोग को मान्य नहीं है।

इसप्रकार एक गुण, अन्य गुणरूप परिणमन नहीं करता - यह स्वीकार करने में ही आत्मकल्याण निहित है। सम्यक्त्व होने के बाद चारित्रगुण का यथार्थ परिणमन क्रम-क्रम से धीरे-धीरे अथवा जल्दी-जल्दी बढ़ते हुए साधक महापुरुष, सिद्धावस्था को प्राप्त करता है, जो आगम एवं वस्तुस्वरूप को मान्य है।

२०१. शंका - यदि अगुरुलघुत्वगुण नहीं मानते हैं तो अरहन्त अवस्था रहेगी या नहीं रहेगी? कृपया इसका खुलासा कीजिए।

समाधान - यदि आप सम्यक्त्व होते ही सिद्ध-अवस्था की प्राप्ति मानोगे तो मिथ्यात्व छोड़ने के बाद जब एक भी गुणस्थान नहीं रहेगा तो तेरहवें गुणस्थान में प्राप्त होनेवाली अरहन्त अवस्था कैसे रहेगी? नहीं रह सकती; क्योंकि हमने सम्यक्त्व होते ही सिद्ध अवस्था मान ली है; अतः ऐसा मानना मिथ्या/असत्य है।

२०२. शंका - तो क्या फिर दिव्यध्वनि के द्वारा उपदेश सुनने की जो पात्रता है अर्थात् देशनालब्धि की पात्रता का भी क्या अभाव मानना अनिवार्य हो जाएगा?

समाधान - भाई! घबराओ मत। यदि चारित्र में क्रम-क्रम से विकास नहीं मानोगे तो कैसी-कैसी विपरीतता आएगी - इसका ज्ञान हम करा रहे हैं। देशना का अर्थ होता है उपदेश और 'लब्धि' का अर्थ होता है प्राप्ति अर्थात् उपदेश की प्राप्ति को देशनालब्धि कहते हैं।

पंच परमेष्ठियों में सबसे प्रमुख अरहन्त भगवान् इच्छारहित एवं सर्वज्ञ हैं, उनकी दिव्यध्वनि सहज अर्थात् इच्छारहित निकलती है; अतः उनकी देशना तो सर्वोपरि और सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है।

आठवें गुणस्थान से बारहवें गुणस्थानवर्ती मुनिराज तो श्रेणी पर आरूढ़ होने से ध्यानमग्न रहते हैं, वे उपदेश का कार्य नहीं करते। इसी प्रकार सातवें गुणस्थानवर्ती मुनिराज भी शुद्धोपयोगी होने से ध्यानमग्न ही रहते हैं। लेकिन उपदेश देने का कार्य शुभोपयोग के काल में ही हो सकता है; अतः साधु अवस्था में मात्र प्रमत्तविरत मुनिराज ही उपदेश देते हैं, अन्य मुनिराज नहीं।

प्रमत्तविरत मुनिराज, देशविरत श्रावक और चौथे गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यक्त्वी - ये तीनों ही साधक अवस्थावाले हैं, देशना देने के लिए अधिकारी हैं, देशना देने के योग्य हैं। लेकिन ये तीनों नियम से अल्पज्ञ होते हैं; इच्छासहित तो हैं ही।

इसतरह तेरहवें और चौथे से छठे गुणस्थानवर्ती जीवों के निमित्त से भी देशना की प्राप्ति पात्र जीवों को भूतकाल में मिली थी, वर्तमानकाल में भी मिल रही है और भविष्य में भी मिलती रहेगी; अतः सम्यक्चारित्र की पर्याय में क्रम-क्रम से विकास मानना ही राजमार्ग है, उसे हमें अवश्य स्वीकार करना चाहिए।

२०३. प्रश्न - परमाणुरूप पुद्गल में चार प्रकार का स्पर्श होता है; किन्तु परमाणु जब अन्य परमाणुओं के साथ मिलकर स्कन्धरूप हो जाता है तो आठ प्रकार का स्पर्श हो जाता है; ऐसा क्यों?



**उत्तर** – वास्तव में देखा जाए तो परमाणु में शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष – ये स्पर्शगुण की चार ही पर्यायें होती हैं; उस समय हल्का, भारी, कोमल, कठोर – ये स्पर्शगुण की चार पर्यायें नहीं होती हैं; ये तो स्कन्ध अवस्था में व्यक्त होनेवाले सापेक्ष धर्म हैं। लेकिन गुण न तो कभी बढ़ते हैं और न कभी घटते हैं। अरे! केवली भगवान द्वारा कथित व्यवस्था में कहीं विरोध आने की बात ही नहीं है।

**२०४. प्रश्न** – ज्ञानगुण में केवलज्ञानरूप परिणमन कहाँ और कब होता है?

**उत्तर** – श्रद्धागुण का पूर्ण निर्मल क्षायिक सम्यक्त्वरूप परिणमन चौथे, पाँचवें, छठवें एवं सातवें गुणस्थान में से किसी भी एक गुणस्थान में हो सकता है। ज्ञानगुण के परिणमन में सम्यक्पना सम्यक्त्व होते ही उसके साथ उत्पन्न हो जाता है। पण्डित दौलतरामजी ने छहढाला की चौथी ढाल के दूसरे छन्द में कहा भी है – सम्यक् साथै ज्ञान होय। लेकिन ज्ञान का पूर्ण निर्मल परिणमन मात्र तेरहवें गुणस्थान में ही होता है, इसके पहले नहीं। ज्ञान का पूर्ण निर्मल परिणमन ही केवलज्ञान कहलाता है।

**२०५. प्रश्न** – ज्ञानगुण के केवलज्ञानरूप पूर्ण निर्मल परिणमन का क्रम कैसा है? श्रद्धागुण के समान है अथवा चारित्रगुण के परिणमन के समान?

**उत्तर** – चारित्रगुण के पूर्ण निर्मल परिणमन के क्रम से केवलज्ञान की प्राप्ति का क्रम अलग है। चारित्रगुण में विकास तो गुणस्थान के क्रमानुसार आगे-आगे वृद्धिगत होता है। चौथे गुणस्थान से चारित्र में सम्यक्पना और सम्यक्त्वाचरण चारित्र प्रगट होता है और उसके आगे व्रतादिक के रूप में पाँचवें, छठवें-सातवें आदि गुणस्थानों में सम्यक्चारित्र का विकास क्रमशः बढ़ते-बढ़ते सिद्धावस्था में पूर्णता को प्राप्त हो जाता है।

ज्ञान में सम्यक्पना तो चौथे गुणस्थान में होता है। उसके पश्चात् पाँचवें आदि गुणस्थानों में ज्ञान की पर्याय में विकास आवश्यक नहीं है; होना हो तो हो और न होना हो तो न हो। ज्ञान की अवस्था, बारहवें गुणस्थानपर्यंत सामान्यतया आवश्यक रूप में सम्यक् मति-श्रुतज्ञानरूप ही रहती है, तेरहवें

गुणस्थान के प्रथम समय में ही क्षायोपशमिक पूर्ण श्रुत ज्ञानपर्याय का व्यय होकर पूर्णज्ञानरूप केवलज्ञानपर्याय का उत्पाद हो जाता है।

किसी-किसी साधक मुनिराज को मति-श्रुत और अवधिज्ञानरूप अवस्था बारहवें गुणस्थान के पहले व्यक्त हो सकती है अथवा मति-श्रुत-अवधि और मनःपर्ययज्ञानरूप चारों ज्ञानों का विकास भी हो सकता है; किन्तु अनेक मुनिवरों के ऐसे भी हो सकता है, जिन्हें उक्त ज्ञानों का विकास हुए बिना ही सिर्फ मति-श्रुतज्ञानपूर्वक केवलज्ञानरूप विकसित ज्ञानपर्याय की प्राप्ति भी हो सकती है।

**२०६. प्रश्न** – सुखगुण की पर्याय का विकास-क्रम कैसा है?

**उत्तर** – सुखगुण की पर्याय का विकास-क्रम, चारित्रगुण के परिणमन के साथ जुड़ा हुआ है। चारित्रगुण में जितनी-जितनी वीतरागता बढ़ती जाती है, उसी क्रम से सुखगुण की पर्याय में भी अतीन्द्रिय आनन्द की वृद्धि होती जाती है।

**२०७. प्रश्न** – आपने मात्र श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र और सुख गुण का ही विकास-क्रम बतलाया है, अन्य गुणों का विकास-क्रम भी बताइए न?

**उत्तर** – बन्धुवर! हमारा प्रयोजन तो मात्र मोक्षमार्ग से है। वह मोक्षमार्ग भी हमें शाश्वत सुख के लिए ही चाहिए। अतएव हमने श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र और सुख – इन चारों गुण का ही विकास-क्रम समझाया है। जीवद्रव्य में तो अनन्त गुण हैं और उन सबका भी अपना-अपना विकास-क्रम सम्भव है, किन्तु उनसे हमारा कोई विशेष प्रयोजन सिद्ध होता नहीं है; अतः उनका विकास-क्रम आचार्यों ने भी नहीं समझाया है।

**२०८. प्रश्न** – अगुरुलघुत्वगुण को जानने से हमें क्या-क्या लाभ होते हैं?

**उत्तर** – अगुरुलघुत्वगुण को जानने से हमें अनेक लाभ होते हैं; जिनका संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है –

१. विश्व का प्रत्येक द्रव्य, प्रत्येक द्रव्य का प्रत्येक गुण और प्रत्येक गुण की प्रत्येक पर्याय अपनी-अपनी अपेक्षा से सत्, अहेतुक एवं निरपेक्ष है; इसप्रकार वस्तु-व्यवस्था का स्पष्ट और पक्का निर्णय होता है।

२. प्रत्येक वस्तु का द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव भिन्न-भिन्न ही होने से एक वस्तु का अन्य वस्तु से किसी भी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं है अर्थात् प्रत्येक द्रव्य पूर्णरूपेण स्वतन्त्र ही है - ऐसा वस्तुस्वरूप का यथार्थ ज्ञान होता है। यह भेदज्ञान ही मोक्षमार्ग को प्रगट करने का एकमात्र उपाय है।

३. एक द्रव्य, अन्य द्रव्यरूप परिणमित नहीं होता अर्थात् जीवद्रव्य कभी पुद्गलादि अन्य द्रव्यरूप नहीं हो सकता।

४. जीव और पुद्गलादि अन्य द्रव्यों की भी अपनी-अपनी स्वतन्त्र सत्ता है। जीवद्रव्य, सदैव जीवद्रव्यरूप और पुद्गलादि, सदैव पुद्गलादिरूप ही रहते हैं। जैसे - पुद्गलरूप शरीर कभी भी जीवरूप नहीं हो सकता; इसीप्रकार टी.वी., टेप-रिकार्डर, रेडियो, सीडी-प्लेयर, मोबाईल आदि पुद्गल कभी जीव नहीं हो सकते। राम का जीव, उसके स्वरूप में ही रहेगा, लक्ष्मण का जीव उसके अपने स्वरूप में ही रहेगा। किसी में भी इस स्वतन्त्र परिणमन में परिवर्तन करने की शक्ति नहीं है; अतः कर्ताबुद्धि का सहज ही नाश हो जाता है।

५. प्रत्येक गुण का परिणमन भिन्न-भिन्न और स्वतन्त्र होता है; अतः एक ही द्रव्य में रहनेवाले एक गुण की पर्याय, उसी द्रव्य में रहनेवाले अन्य गुण की पर्याय से कथंचित् स्वतन्त्र है - ऐसा निर्णय होता है।

६. श्रद्धागुण की पर्याय क्षायिक सम्यक्त्वरूप सिद्ध भगवान की सम्यक्त्व पर्याय के समान पूर्ण निर्मल होने पर भी साधक के ज्ञान और चारित्रगुण की पर्यायें अपूर्ण और अविकसित रहती हैं।

७. पर्यायों का परिणमन स्वतन्त्र और निरपेक्ष होने के कारण ही श्रावक और साधु के भिन्न-भिन्न अनेक गुणस्थान होते हैं - यह विषय अगुरुलघुत्वगुण से स्पष्ट समझ में आता है।

८. श्रद्धा की पर्याय चौथे गुणस्थान में, ज्ञानगुण की पर्याय तेरहवें गुणस्थान में एवं चारित्र की यथाख्यातरूप पर्याय बारहवें गुणस्थान में एवं सिद्धावस्था में पूर्ण निर्मल होती है; ऐसा पक्का ज्ञान हो जाता है।

९. भावलिंगी मुनिराज भूमिका के योग्य क्रोधादि कषायरूप परिणमित होते हुए भी उनका भावलिंगीपना सुरक्षित रहता है; इसीप्रकार ब्रती

श्रावक, पूजादि शुभकार्य और अत्रती-श्रावक, युद्धादि अशुभकार्य रूप परिणमित होते हुए भी उनका साधकपना बना रह सकता है - यह विषय समझ में आता है।

१०. द्रव्य और गुणों का, द्रव्य-क्षेत्र-काल एक ही होने से द्रव्य में से गुण बिखरकर अलग-अलग नहीं होते। जैसे - बोरे में भरे हुए गेहूँ बिखरकर अलग हो जाते हैं; वैसे जीवद्रव्य में से ज्ञानादि गुण तथा पुद्गलद्रव्य में से स्पर्श आदि गुण बिखरकर अलग-अलग नहीं होते हैं।

११. जीव-पुद्गलादि द्रव्यों में ज्ञानादि या स्पर्शादि गुण जितने और जैसे हैं, वे उतने और वैसे ही बने रहते हैं; न हीनाधिक होते हैं और न उनका अभाव होता है।

२०९. प्रश्न - तद्भव मोक्षगामी भगवान रामचन्द्र अपनी पत्नी सीता के वियोग में इतने शोक-विह्वल थे कि वह पेड़-पौधों से भी सीताजी के सम्बन्ध में पूँछते थे तथा भाई लक्ष्मण के शव/मुर्दे को अपने कन्धे पर छह माह तक ढोते एवं रोते फिरे थे; वहाँ हमें यहाँ क्या समझना चाहिए?

उत्तर - श्रद्धागुण की क्षायिक सम्यक्त्वरूप पर्याय तो प्रभु रामचन्द्र के जीवन में व्यक्त/प्रगट थी, किन्तु चारित्रगुण की पर्याय सम्यक् (सम्यक्त्वाचरणरूप) होने पर भी चारित्र में अपेक्षाकृत विकास नहीं हुआ था, चारित्र में कमजोरी थी - ऐसा समझना चाहिए।

चक्रवर्ती, कामदेव एवं तीर्थकर - इन तीन-तीन पदवी के धारक शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ और अरनाथ, अपने वर्तमान भव का उज्वल भविष्य जानते हुए भी छह खण्ड के अधिपति एवं ९६ हजार रानियों के पति बने थे। इससे सिद्ध होता है कि श्रद्धागुण की निर्मल पर्याय, चारित्रगुण के परिणमन में किंचित् भी जबरदस्ती नहीं कर पाती।

यदि हमें कभी किसी सम्यग्दृष्टि के जीवन में अपेक्षाकृत चारित्र का विकास देखने में न आवे तो हमें अगुरुलघुत्वगुण का सार - एक गुण दूसरे गुणरूप नहीं होता, एक गुण दूसरे गुण का कार्य नहीं करता - इस तात्त्विक विषय पर विचार कर, वस्तु-स्थिति समझ लेना चाहिए।

इसप्रकार 'अगुरुलघुत्वगुण' का १७ प्रश्नोत्तर के साथ विवेचन पूर्ण होता है।

## प्रदेशत्वगुण-विवेचन

॥ मङ्गलाचरण ॥

प्रदेशत्वगुण की शक्ति से, आकार द्रव्य धरा करें;  
निजक्षेत्र में व्यापक रहें, आकार भी पलटा करें।  
आकार हैं सब के अलग, हों लीन अपने ज्ञान में;  
जानो इन्हें सामान्यगुण, रक्खो सदा श्रद्धान में ॥

द्रव्य में रहनेवाले प्रदेशत्वगुण के कारण प्रत्येक द्रव्य को अपना-अपना स्वतन्त्र आकार प्राप्त होता है अर्थात् प्रदेशत्वगुण से ही द्रव्य अपने आकार को धारण करता है। प्रदेशत्वगुण से ही द्रव्य अपने योग्य आकाश-क्षेत्र को व्यापता है, घेरता है; इसलिए द्रव्य अपना आकार ग्रहण करने में स्वाधीन है। प्रत्येक द्रव्य का आकार भिन्न-भिन्न है - ऐसा जानकर हे जीव! अपने ज्ञानस्वभाव में डूब जाओ, मग्न हो जाओ, लीन हो जाओ।

२१०. प्रश्न - आचार्यों ने शास्त्रों में प्रदेशत्वगुण का वर्णन क्यों किया है?

उत्तर - अज्ञानी जीव शरीर एवं अन्य पुद्गलों के अनुकूल आकारों से राग और प्रतिकूल आकारों से द्वेष दिन-रात करता रहता है और व्यर्थ ही दुःखी होता है। सभी द्रव्यों का अपना-अपना आकार तो मात्र उनकी द्रव्यगत योग्यता से प्रदेशत्वगुण के कारण ही होता है। आकार-सम्बन्धी अज्ञानी के सभी विकल्प व्यर्थ तो होते ही हैं साथ ही दुःखदायक भी होते हैं। कोई जीव ज्ञानी हो या अज्ञानी, वह किसी भी द्रव्य को अपनी इच्छा के अनुसार आकार तो दे ही नहीं सकता।

इस वास्तविक वस्तु-व्यवस्था का ज्ञान कराने के लिए ही आचार्यों ने शास्त्रों में प्रदेशत्वगुण का वर्णन किया है।

२११. प्रश्न - प्रदेशत्वगुण का कथन, छह सामान्य गुणों में सबसे अन्त में क्यों किया है?

उत्तर - १. गुणों का समूह न हो तो द्रव्य की स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध नहीं

हो सकती। २. गुणों की समूहरूप सत्ता किसी न किसी आधार/आश्रय के बिना टिक नहीं सकती। ३. आधार/आश्रय प्रदेशवान वस्तु का ही होता है। ४. अतः प्रदेशत्वगुण का कथन सबसे अन्त में किया गया है।

२१२. प्रश्न - प्रदेशत्वगुण किसे कहते हैं?

उत्तर - जिस शक्ति के कारण द्रव्य का कोई न कोई आकार अवश्य होता है; उसे प्रदेशत्वगुण कहते हैं।

२१३. प्रश्न - क्या प्रदेशत्वगुण का कथन अन्य शास्त्रों में भी आया है? यदि हाँ, तो बताने का कष्ट करें।

उत्तर - १. आचार्य कुन्दकुन्द ने नियमसार शास्त्र की गाथा ३५-३६ में छह द्रव्यों के प्रदेशों की संख्या बताई है। वे कहते हैं - “मूर्त (पुद्गल) द्रव्य के संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश होते हैं। धर्म, अधर्म तथा एक जीव के असंख्यात प्रदेश होते हैं। लोकाकाश के, धर्म, अधर्म तथा एक जीव की भाँति असंख्यात प्रदेश होते हैं। शेष अलोकाकाश और सम्पूर्ण आकाश के अनन्त प्रदेश होते हैं। काल को कायवानपने का अभाव है; क्योंकि वह एकप्रदेशी है।”

२१४. शंका - यहाँ तो प्रदेशत्वगुण के कारण द्रव्य के आकार की बात चल रही है और आप तो छह द्रव्यों के प्रदेशों की संख्या की चर्चा कर रहे हो? कुछ बात समझ में नहीं आ रही है।

समाधान - इसमें समझ में न आने की बात क्या है? देखो,

१. द्रव्य का आकार तो प्रदेशों के कारण ही बनता है; इसलिए यहाँ द्रव्यों के प्रदेशों की संख्या बताई जा रही है।

२. आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र के पाँचवें अध्याय के सूत्र ८-११ में भी छह द्रव्यों की प्रदेशों की संख्या बताई है, जो क्रम से इसप्रकार है - “धर्म, अधर्म और एक जीव के असंख्यात प्रदेश हैं। आकाश के अनन्त प्रदेश हैं। पुद्गलों के संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश हैं। परमाणु के प्रदेश नहीं हैं अर्थात् उसका एक प्रदेश है।”

३. आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार परिशिष्ट में ४७ शक्तियों के वर्णन के प्रसंग में शक्ति क्रमांक २४ में प्रदेशत्वशक्ति का वर्णन किया है। वहाँ आचार्य ने इसका नाम नियतप्रदेशत्वशक्ति दिया है। उसका स्वरूप है – “अनादिकाल से संसार-अवस्था में संकोच-विस्तार से लक्षित और सिद्ध-अवस्था में चरमशरीर से किंचित् न्यून-परिमाण तथा लोकाकाश के प्रदेशों की संख्या के बराबर असंख्यात प्रदेशी आत्मा के अवयववाली नियतप्रदेशत्वशक्ति है।”

४. श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेव ने अपनी कृति द्रव्यसंग्रह की गाथा २५ में भी छह द्रव्यों के प्रदेशों की संख्या कही है – “एक जीव तथा धर्म-अधर्म द्रव्यों में असंख्यात प्रदेश हैं। आकाश में अनन्त प्रदेश हैं। पुद्गल में संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश हैं तथा प्रत्येक कालद्रव्य, एक प्रदेशवाला है, इसलिए वह कायवान नहीं है।”

इन ग्रन्थों को छोड़कर भी प्रवचनसार गाथा १३७ एवं १४४ तथा इन्हीं गाथाओं की टीका में भी प्रदेशों का वर्णन तर्क द्वारा सिद्ध किया गया है, जो मूलतः पठनीय है। यही विषय पंचाध्यायी के प्रथम भाग, श्लोक २८ तथा १८७ में भी मिलेगा।

२१५. प्रश्न – ‘आकार’ शब्द से हमें क्या समझना चाहिए?

उत्तर – द्रव्यों की कुछ न कुछ लम्बाई-चौड़ाई विभिन्न आकृतियों में गोल, चौकोण, त्रिकोण, षट्कोण आदि में से कोई न कोई एक आकृति अवश्य होना चाहिए; क्योंकि आकृतिरहित वस्तु हो ही नहीं सकती; भले ही वह आकार छोटा-बड़ा आदि कोई भी हो।

२१६. प्रश्न – क्या अमूर्तिक द्रव्यों का भी कोई आकार होता है?

उत्तर – अमूर्तिक द्रव्यों का भी आकार अवश्य होता है; परन्तु कतिपय मूर्तिक पुद्गल-स्कन्धों आदि के समान अमूर्तिक द्रव्यों का आकार हमें आँखों से दिखाई नहीं देता।

२१७. प्रश्न – द्रव्य का आकार सदैव एक-सा ही रहता है अथवा बदलता भी रहता है?

उत्तर – संसारी जीव और पुद्गल-स्कन्धों का आकार सदा बदलता रहता है। जैसे, एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के समस्त जीव संसारी हैं। उनका उनके शरीर के साथ एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध है। शरीर का आकार छोटा-बड़ा, मोटा-पतला होता रहता है, जिसके कारण जीव का आकार भी सतत बदलता रहता है।

दिन भर मनुष्य उठता-बैठता है, सोता-जागता है, अपने शरीर के अंगों का भी अन्य-अन्य कार्यवश हलन-चलन करता रहता है, व्यायाम आदि भी करता है; जिसके कारण मनुष्य का आकार भी बदलता रहता है। यह हमें प्रत्यक्ष ही देखने में आता है। लोक सिद्धपर्याय से परिणमित शुद्धजीव, पुद्गलपरमाणु, कालाणु, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय एवं आकाशद्रव्य का आकार कभी नहीं बदलता है। क्योंकि –

१. सिद्ध जीव, अन्तिम पुरुषाकार से किंचित् न्यूनता सहित सिद्धालय में विराजते हैं। वहाँ जीव के आकार बदलने का कोई निमित्तकारण भी नहीं है और उपादान की योग्यता भी उस प्रकार की नहीं होने से अनन्तकाल तक उनका आकार एक जैसा ही बना रहता है।

२. परमाणु और कालाणु का आकार एक प्रदेश मात्र ही है; अतः उनका आकार भी सदा एक समान रहता है; क्योंकि प्रदेश का आकार सदैव एक समान माना गया है।

३. धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय लोकाकाश प्रमाण हैं; अतः वे भी सदैव एक ही आकार में रहते हैं। वहाँ आकार बदलने का कोई कारण भी नहीं है।

विशालकाय आकाश का भी अनन्त प्रदेशी आकार जैसा है, वैसा ही सदैव बना रहता है। आकाश, दशों दिशाओं में अनन्तता को प्राप्त है।

२१८. प्रश्न – प्रदेशत्वगुण को न मानने से क्या हानियाँ होती हैं?

उत्तर – प्रदेशत्वगुण को न मानने से द्रव्य का कोई आकार सिद्ध नहीं

होता है, जिसके कारण द्रव्य के सर्वथा निराकारपने का प्रसंग आता है अर्थात् द्रव्य के ही अभाव होने का प्रसंग आता है।

द्रव्य का आधार/आश्रय प्रदेश ही तो है। प्रदेशों के कारण ही द्रव्य का अस्तित्व रहता है। यदि प्रदेश ही नहीं रहेंगे तो द्रव्य का आश्रयभूत स्वक्षेत्र कौन रहेगा? अतः आश्रय के बिना द्रव्य के ही अभाव का (न्यायसंगत) प्रसंग आता है।

**२१९. प्रश्न – प्रदेशत्वगुण को जानने से हमें क्या-क्या लाभ होते हैं?**

**उत्तर – प्रदेशत्वगुण को जानने से हमें अनेक लाभ होते हैं –**

१. जीव के छोटे-बड़े आकार से सुख दुःख का कोई सम्बन्ध नहीं है – ऐसा निर्णय होता है। उदाहरणार्थ – विशालकाय कामदेव बाहुबली, सिद्ध भगवान बनकर सिद्धालय में अपने बड़े आकार के साथ विराजमान हैं और चक्रवर्ती भरत सिद्ध भगवान के रूप में उनसे थोड़े छोटे आकार के साथ विराजमान हैं; पर दोनों के अव्याबाध अनन्त क्षायिकसुख में कोई अन्तर नहीं है।

२. किसी छोटे आकार के व्यक्ति को क्रोध आया तथा दूसरे विशालकाय व्यक्ति को क्रोध आया; पर दोनों को अपने विभाव परिणामों के कारण समान ही दुःख हुआ है। इसप्रकार बाह्य काया के आकार के कारण दुःख में हीनाधिकता नहीं हुई।

३. प्रत्येक द्रव्य का आकार, उसके प्रदेशत्वगुण के कारण ही होता है; अतः हम किसी द्रव्य का आकार बना सकते हैं – ऐसी मान्यता निकल जाती है।

जैसे – छोटे बच्चे खेल-खेल में गीली मिट्टी या रेत में अपना पैर फँसाकर घरौंदा बनाते हैं। आपने भी ऐसे खेल खेलकर मनोविनोद किया ही होगा। अब यहाँ हम विचार करें कि बच्चों ने मिट्टी या रेत में जो घरौंदा बनाया है, वह उनके पैरों के कारण बना है अथवा मिट्टी में या रेत में जो प्रदेशत्वगुण है, उसके कारण बना है?

यदि आप कहोगे कि पैरों के कारण घरौंदा बना है तो फिर पैर तो सदैव विद्यमान रहते हैं; अतः घरौंदा हमेशा ही बनते रहना चाहिए; किन्तु ऐसा नहीं होता है। इससे सिद्ध होता है कि बच्चों द्वारा बनाया गया घरौंदा उनके पैरों के कारण नहीं, अपितु मिट्टी अथवा रेतरूपी पुद्गल के प्रदेशत्वगुण के कारण बना है; अन्य कारण से नहीं।

४. हमने किसी लकड़ी में कील ठोकी और वह कील उसमें फँस गई। कुछ काल व्यतीत होने पर कील निकालने से लकड़ी में एक छोटा-सा गड्ढा बन गया। उस गड्ढेरूप आकार की रचना कील अथवा व्यक्ति के कारण नहीं; अपितु लकड़ी के अपने प्रदेशत्वगुण के कारण बनी है। ऐसा समझने से हमारी कर्ताबुद्धि का सहज ही नाश हो जाता है –

**२२०. शंका – हम प्रत्यक्ष आँखों से देख रहे हैं कि व्यक्ति ने लकड़ी में कील ठोकी, जिससे लकड़ी में एक छोटा गड्ढा बन गया, पर आप समझा रहे हैं कि यह कार्य प्रदेशत्वगुण के कारण हुआ; यह हमारी समझ में नहीं आता?**

**समाधान –** आपको यहाँ अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक विचार करने की आवश्यकता है, जिससे सहज ही वस्तुस्थिति समझ में आ जाएगी –

१. हमारी-आपकी दृष्टि, संयोगों पर टिकी हुई होने से संयोगदृष्टि है या बाह्यदृष्टि है। यहाँ विवेचन स्वभावदृष्टि से चल रहा है। सर्वज्ञ भगवान को अथवा वस्तुस्वरूप को स्वभावदृष्टि ही मान्य है। जब हम वस्तुस्वभाव की मुख्यता से देखेंगे तो सब समझ में आ जाएगा।

२. अनादिकाल से अज्ञानी संयोग-दृष्टि से देखता चला आया है और उसे मिथ्यात्ववश छोड़ना भी नहीं चाहता, इसीलिए दुःखी होता है; अतः हमें स्वभाव-दृष्टि स्वीकारने का प्रयत्न करना चाहिए।

स्वभाव-दृष्टि का स्वीकार करते ही हमें अपना तथा पर के अकर्तापने का सहज निर्णयात्मक ज्ञान हो जाएगा। अकर्तापना और ज्ञातापना, दोनों

का एक ही अर्थ है। यह ज्ञातापना ही सुखी होने का सत्य और परमार्थ तथा एकमेव उपाय है; जिसे अनन्त सर्वज्ञ भगवन्तों ने अनादि से अनन्त जीवों के कल्याण के लिए दिव्यध्वनि द्वारा अनन्त बार कहा/बताया है।

३. अरूपी द्रव्यों का आकार भी भिन्न-भिन्न होने से उनकी भिन्नता का निर्णय होता है। जैसे - धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, अनन्त सिद्ध भगवन्तों का आकार आदि। देखो, धर्मास्तिकाय एवं अधर्मास्तिकाय, इन दोनों द्रव्यों का आकार समान है, समान होने से एक जैसा भी है, फिर भी दोनों का आकार एक नहीं है; क्योंकि प्रत्येक द्रव्य का प्रदेशत्वगुण पृथक्-पृथक् है।

४. जीव, संसार अवस्था में शरीराकार होने पर भी उसका आकार शरीर के कारण नहीं; अपितु अपने प्रदेशत्वगुण के कारण है। 'द्रव्यसंग्रह' शास्त्र की गाथा क्रमांक २ में जीव को 'सदेहपरिमाणो' कहा है, पर यह कथन व्यवहारनय की अपेक्षा से किया गया है; अतः किसी भी द्रव्य का जो आकार हो, वह मात्र प्रदेशत्वगुण के कारण ही है, अन्य के कारण नहीं; यही स्वीकार करना चाहिए; यही वास्तविक है, काल्पनिक नहीं।

५. सिद्ध भगवान भी जीवद्रव्य हैं, जीव होने से उनमें भी प्रदेशत्वगुण है, इसलिए वे साकार कहे जाते हैं, किन्तु पुद्गल-स्कन्धों के जैसा उनका मूर्त आकार नहीं है, अतः उन्हें निराकार भी कहा जाता है; वास्तव में उनका आकार तो ज्ञानाकार है।

६. विश्व में जितने द्रव्य हैं, उतने ही प्रदेशत्वगुण है। जीव चेतन है; अतः उनका प्रदेशत्वगुण भी चेतन कहा जा सकता है; क्योंकि जीवों के प्रदेशत्वगुण में चेतनागुण का रूप होता है। इसीप्रकार शेष अचेतन द्रव्यों का प्रदेशत्वगुण अचेतन कहे जा सकते हैं।

७. इसीप्रकार क्रियाशील द्रव्यों के प्रदेशत्वगुण सक्रिय और क्रियारहित द्रव्यों के प्रदेशत्वगुण निष्क्रिय कहे जाते हैं।

इसप्रकार 'प्रदेशत्वगुण' का १० प्रश्नोत्तर के साथ विवेचन पूर्ण होता है।

●

## पर्याय-विवेचन

२२१. प्रश्न - जिनधर्म-प्रवेशिका में द्रव्य एवं गुण की परिभाषा देने के बाद पर्याय की परिभाषा क्यों दी गई है?

उत्तर - 'पर्याय' का अर्थ अवस्था है। जीवादि छह द्रव्य और ज्ञानादि एवं स्पर्शादि गुण, पर्याय के बिना रहते ही नहीं हैं; अतः द्रव्य और गुण की परिभाषा जानने के पश्चात् उनकी ही विशेष जानकारी एवं पर्यायों को विस्तार से समझने के लिए पर्याय का वर्णन करना आवश्यक है।

पर्याय को जाने बिना द्रव्य और गुण को जानना अधूरा ही रहता है; क्योंकि वस्तु को द्रव्य-पर्यायात्मक कहो अथवा गुण-पर्यायात्मक एक ही बात है।

२२२. प्रश्न - पर्याय किसे कहते हैं?

उत्तर - गुणों के कार्य अर्थात् परिणमन को पर्याय कहते हैं।

२२३. प्रश्न - गुरु गोपालदासजी बरैया ने पर्याय की जो परिभाषा बताई है, तदनुसार अन्य ग्रन्थों में जो परिभाषाएँ आयी हैं, उनके कुछ आगम-प्रमाण बताइए?

उत्तर - आगम में पर्याय की अनेक परिभाषाएँ आयी हैं; उनमें से कुछ परिभाषाओं का उल्लेख हम यहाँ करते हैं -

१. आचार्य देवसेनकृत आलापपद्धति में पर्याय अधिकार के प्रथम सूत्र में पर्याय की परिभाषा निम्नानुसार आती है - "द्रव्य और गुणों के विकार अर्थात् परिणमन को पर्याय कहते हैं।"

२. पंचाध्यायी शास्त्र के प्रथम अध्याय के श्लोक २६ एवं ११७ में पर्याय की परिभाषा दी गई है - "गुणों में प्रतिसमय होनेवाली अवस्था का नाम पर्याय है। अथवा द्रव्यों में जो अंश-कल्पना की जाती है, यहीं तो पर्यायों का स्वरूप है।"

३. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), गाथा ५७२ में आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने कहा है - “व्यवहार, विकल्प, भेद और पर्याय - ये सब एकार्थवाची हैं।”

४. आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ५, सूत्र ४२ में कहा है - ‘तद्भावः परिणामः। - अर्थात् उसका होना, प्रतिसमय बदलते रहना, उसे पर्याय कहते हैं।

२२४. प्रश्न - पर्याय का कर्ता कौन है?

उत्तर - पर्याय के कर्ता को लेकर अन्य-अन्य विवक्षाओं से अलग-अलग कथन निम्नानुसार हैं -

१. द्रव्य की मुख्यता से विचार करते हैं तो द्रव्य ही पर्याय का कर्ता है। द्रव्य को व्यापक और पर्याय को व्याप्य माना गया है।

समयसार कलश ४९ में आचार्य अमृतचन्द्रदेव कर्ता-कर्म का खुलासा करते हुए कहते हैं - “व्यापक अर्थात् द्रव्य, व्याप्य अर्थात् पर्याय। व्यापक द्रव्य कर्ता है और व्याप्यरूप पर्याय कर्म है।”

इसका स्पष्ट अर्थ है - द्रव्य कर्ता है और उसकी पर्याय कर्म है। जब कभी हमें कर्ता-कर्म का व्यवस्थित या सुनिश्चित ज्ञान/खुलासा/विवेचन अपेक्षित हो तो द्रव्य नियम से परिणामन करता है - ऐसा समझना चाहिए।

यहाँ एक जीवद्रव्य को लेकर कर्ता-कर्म कहा है, इसका अर्थ मात्र जीवों में कर्ता-कर्म घटित होता है - ऐसा नहीं। प्रत्येक द्रव्य में यह कर्ता-कर्म सम्बन्ध अबाधित है। जीवद्रव्य एवं उसकी पर्याय अथवा पुद्गलद्रव्य एवं उसकी पर्यायें तो हम-आपको स्पष्ट जानने में आती हैं। इसी तरह धर्म-अधर्मद्रव्य, आकाश एवं कालद्रव्य में भी ऐसा ही समझना चाहिए। हाँ, इन चार अरूपी द्रव्यों के कर्ता-कर्मपने को तर्क एवं युक्ति से ही समझना आवश्यक है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने ही समयसार कलश ५१ में भी इसी विषय को और स्पष्ट किया है -

“यः परिणामति स कर्ता, यः परिणामो भवेत् तत्कर्म।

या परिणतिः क्रिया सा, त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया ॥

अर्थात् जो परिणामित होता है, वह कर्ता है; उसका जो परिणाम है, वह कर्म है और उसकी जो परिणति है, वह क्रिया है - ये तीनों वस्तुरूप से भिन्न नहीं हैं।”

मिट्टी कर्ता है और घट कर्म है, यह कर्ता-कर्म सम्बन्ध तो जैन अध्यात्म जगत् में अति प्रसिद्ध है तथा कुम्भकार, घटकार्य में निमित्त मात्र है।

२. भेदनय की अपेक्षा से हम गुण को भी कर्ता कह सकते हैं।

जब हम जीवद्रव्य के ज्ञानगुण को स्वीकारेंगे तो ज्ञानगुण कर्ता हुआ और केवलज्ञान की पर्याय, उसका कर्म हुई।

ज्ञानावरण कर्म का सम्पूर्ण क्षय होने से केवलज्ञान उत्पन्न होता है - यह व्यवहारनय का कथन है, निमित्तप्रधान कथन है।

ज्ञानगुण का परिणामन केवलज्ञानरूप होता है, इसलिए ज्ञानगुण कर्ता है और केवलज्ञानरूप पर्याय कर्म है - ऐसे कर्ता-कर्म की स्वीकृति होती है।

२२५. प्रश्न - पर्याय का कर्ता गुण है - इसे उदाहरणसहित स्पष्ट करें।

उत्तर - एक गुण का कार्य अथवा परिणामन, उसी एक गुण में से ही आता है; उसी द्रव्य के अन्य गुण में से या अन्य द्रव्य में से नहीं आता।

जैसे - हमने कच्चे, हरे तथा खट्टे आम को पकने के लिए पाल/घास में रखा; आम पका, पीला तथा मीठा हो गया। अब हमें यह निर्णय करना है कि आम का हरा रंग बदल कर पीला रंग कहाँ से और किस प्रकार हुआ? आम में जो पीलापन आया है, वह आम के वर्णगुण में से आया है अथवा पाल अर्थात् घास में से आया है?

यहाँ हम पर्याय का स्वरूप समझने का कार्य कर रहे हैं, अतः आपका सहज उत्तर होगा कि आम में पीलापन उसके वर्णगुण में से आया है, पाल/घास आदि में से नहीं आया। पाल, घास, कमरा आदि पीलेपन में निमित्त हैं।

हम आपसे पुनः प्रश्न करते हैं कि आपने आम को पकने के लिए कमरे के अन्दर पाल में अपने ही हाथों से रखा था तो आम के पीलेपन में कमरा, हाथ और पाल आदि ने कितने प्रतिशत काम किया है? और वर्णगुण ने कितने प्रतिशत काम किया है?

इस पर आपका उत्तर होगा कि आम के पीलेपन में कमरा, हाथ, पाल आदि ने एक प्रतिशत भी काम नहीं किया। आम में पीलापन शत-प्रतिशत आम के वर्णगुण में से ही आया है; क्योंकि आप समझ चुके हैं कि पर्याय तो गुण में से ही आती है, अन्य गुण और अन्य द्रव्य में से नहीं।

जैसे, आम में, आम के ही वर्णगुण में से पीलापन आया है। इसीप्रकार समझना चाहिए कि आम में जो मीठापन आया है, वह आम के ही रसगुण में से आया है, अन्य गुण या अन्य द्रव्य में से नहीं।

पानी को प्रासुक करने के लिए हमने पानी को दोहरे-छन्ने से छान कर अग्नि पर रखा। १५ मिनट पश्चात् देखा तो पानी बहुत गरम हो गया। अब हमें प्रश्न उत्पन्न होता है कि पानी में जो उष्णता आई है, वह उष्णता अग्नि में से आई अथवा पानी के स्पर्शगुण में से आई है?

कोई कह सकता है कि पानी में उष्णता अग्नि में से आई है; इसलिए तो पानी गरम हुआ है।

इस पर हमारा पुनः २२६. प्रश्न है – बताइए कि अग्नि में से उष्णता निकलकर पानी में प्रविष्ट हुई है तो अग्नि की उष्णता कुछ कम तो होनी ही चाहिए। अब बताइए कि अग्नि में से उष्णता कितनी कम हुई?

तब सहज ही उत्तर आएगा – अग्नि की उष्णता कुछ भी कम नहीं हुई है। इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि अग्नि में से उष्णता निकल कर पानी में प्रविष्ट नहीं हुई, अतः अग्नि में से उष्णता पानी में आई है – यह कथन असत्य है। पानी के गरम होने में अग्नि निमित्त जरूर है।

पर्याय की परिभाषा के अनुसार विचार करते हैं तो यह विदित होता है कि पानी का स्पर्शगुण पहले शीतल था, अतः पानी के स्पर्शगुण में से

ही उष्ण अवस्था/पर्याय आई है। पानी में आई हुई उष्णता का कर्ता स्पर्शगुण है; रस, गन्ध, वर्णगुण अथवा अग्नि आदि अन्य द्रव्य नहीं।

इसी प्रकार जीवद्रव्य के ज्ञानगुण की पर्याय का विचार निम्नानुसार किया जा सकता है –

युवा तीर्थंकर महावीर ने अपनी ३० वर्ष की आयु में दिगम्बर साधु अवस्था का स्वीकार किया था। उसके पश्चात् १२ वर्ष तक साधु अवस्था में आत्म-साधना की थी। तत्पश्चात् उन्होंने ४२ वर्ष की आयु में केवलज्ञान प्राप्त किया।

यहाँ यह विचार करना है कि चार ज्ञानधारी/अल्पज्ञानी मुनिराज महावीर को जो केवलज्ञान हुआ, क्या वह केवलज्ञान, ज्ञानगुण में से प्रगट हुआ अथवा उनके शरीर की दिगम्बर अवस्था से या महाव्रत पालनरूप उनके पुण्य से उत्पन्न हुआ?

दिगम्बर अवस्था तो शरीर अर्थात् पुद्गल की परिणति है। पुद्गल की पर्याय में से केवलज्ञान उत्पन्न हो ही नहीं सकता; क्योंकि ज्ञानरहित शरीर, केवलज्ञान कैसे उत्पन्न कर सकता है?

महाव्रतरूप विकल्पात्मक परिणाम तो जीव की आस्रव-बन्धरूप विकारी अर्थात् दुःस्वरूप अवस्था है। दुःस्वरूप अवस्था से अनन्तसुख-स्वरूप केवलज्ञान कैसे उत्पन्न हो सकता है?

जब हम पर्याय की परिभाषा के अनुसार विचार करते हैं, तब ज्ञानगुण में से ही केवलज्ञान उत्पन्न होता है, यह बात स्पष्ट समझ में आती है।

इसका अर्थ यह भी न मानें कि दिगम्बर अवस्था को स्वीकार किये बिना ही केवलज्ञान हो जाता है; केवलज्ञान के लिए निमित्तरूप से दिगम्बर मुनि अवस्था का होना अनिवार्य है।

हमें भूख लगी हो और उसी समय पुण्योदय से अनुकूल भोजन मिल जाए, जिसे ग्रहण करके हमें शान्ति या समाधान प्राप्त हो। लेकिन यहाँ यह विचार करना है कि हमें जो शान्ति या समाधान मिला, वह क्या भोजन में से आया अथवा अपनी आत्मा के चारित्रगुण में से आया?



यदि भोजन में से शान्ति आती होती तो जिस थाली में भोजन परोसा गया था, उस थाली को भी शान्ति मिलना चाहिए तथा जिन बर्तनों में भोजन बनाया गया है, उन्हें भी शान्ति मिलना चाहिए।

आप कहेंगे कि थाली, बर्तन आदि तो जड़ हैं, अजीव हैं; उन्हें सुख-शान्ति कैसे मिलेगी? सुख, शान्ति और समाधान तो जीव को ही मिलेगा, अन्य द्रव्यों को नहीं। इसी प्रकार पर्याय की परिभाषा हमें बोध देती है कि गुण में से ही पर्याय आएगी; अन्य पदार्थों में से नहीं।

पंचाध्यायी, प्रथम खण्ड, श्लोक १६५ में कहा भी है कि जो क्रमवर्ती, अनित्य, व्यतिरेकी, उत्पाद-व्ययरूप और कथंचित् ध्रौव्यात्मक होती हैं; उन्हें पर्याय कहते हैं।

२२७. प्रश्न - पर्याय के अन्य नाम कौन-कौन से हैं?

उत्तर - अवस्था, हालत, दशा, क्रिया, कार्य, परिणमन, परिणाम, परिणति, अंश, भाग, छेद, क्रमवर्ती, व्यतिरेकी, अनित्य, विशेष आदि अनेक नाम पर्याय के हैं।

२२८. प्रश्न - पर्याय का स्वरूप जानने से हमें क्या लाभ है?

उत्तर - पर्याय का स्वरूप जानने से हमें निम्न अनेक लाभ हैं -

१. विश्व में रहनेवाले जाति अपेक्षा छह द्रव्यों में और संख्या अपेक्षा अनन्तानन्त द्रव्यों में अर्थात् प्रत्येक द्रव्य में और प्रत्येक द्रव्य में रहनेवाले अनन्तानन्त गुणों में अर्थात् प्रत्येक गुण में भी नियम से प्रतिसमय परिणमन हो रहा है।

गुणों के परिणमन या द्रव्य का परिणमन, दोनों का एक ही अर्थ है; क्योंकि द्रव्य गुणों का ही तो समूह है। भेद विवक्षा से कहना हो तो गुणों के परिणमन को पर्याय कहते हैं और अभेद विवक्षा से कहना हो तो द्रव्य के परिणमन को पर्याय कहते हैं।

मेरी पर्यायों, मेरे जीवद्रव्य अथवा उसके ज्ञानादि गुणों में से ही आती हैं अर्थात् मेरे अच्छे-बुरे परिणाम के लिए मैं स्वयं स्वतन्त्रतया उत्तरदायी हूँ - ऐसा पक्का निर्णय होने पर दूसरे द्रव्यों की अपेक्षा नष्ट हो जाती है।

परद्रव्य और उनके गुणों से मेरा कुछ भी अच्छा-बुरा होना सम्भव नहीं है; अतः पर की अपेक्षा छोड़कर जीव, स्वयं आत्म-सन्मुख होता है। आत्म-सन्मुख होते ही सुखी जीवन का प्रारम्भ हो जाता है तथा यह दृढ़ श्रद्धान हो जाता है कि 'मैं ही मेरा कर्ता-धर्ता पर से कुछ भी सम्बन्ध नहीं।' साथ ही श्रद्धा सम्यक् होते ही ज्ञान में भी सम्यक्पना आ ही जाता है।

२. परद्रव्य का परिणमन भी उसके परिणमन स्वभाव से होता है; उसे इष्ट-अनिष्ट कहने/मानने का मुझे कोई अधिकार नहीं है - ऐसा निर्णय होते ही आकुल-व्याकुल होने का क्रम टूट जाता है और जीवन में स्वयमेव शान्ति-समाधान का अवतार होता है।

३. पर्यायों के यथार्थ ज्ञान से ही द्रव्य का निर्णय होता है। जैसे - मेरे हाथ में यह 'पेन' है, पेन पुद्गलद्रव्यात्मक पदार्थ है - यह विषय हमने कैसे जाना? इसका उत्तर सहज ही आएगा कि पेन में भी जो पौद्गलिक स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण ये विशेष गुण हैं, वे सब हमारे जानने में आ रहे हैं; अतः हमने यह निर्णय किया कि पेन भी एक पुद्गलद्रव्यों से रचित एक पदार्थ है।

२२९. हम पुनः प्रश्न करते हैं - आपने पेन को स्पर्शादि गुणों से जाना अथवा उसके आकार-प्रकार, कठोर-मुलायम आदि स्पर्श की और नीले-पीले आदि वर्ण की पर्यायों को देखकर जाना?

आपका उत्तर - हमने पेन के कठोर-मुलायम स्पर्श और नीले-पीले रंग आदि पर्यायों से यह जाना कि यह पेनरूप पदार्थ पुद्गलद्रव्यात्मक है। इस उदाहरण से सिद्ध होता है कि हम पर्यायों से ही गुण और द्रव्य का निर्णय कर पाते हैं, हमारे पास अन्य कोई उपाय नहीं है।

यदि कोई आपसे कहता है - मैं जीवद्रव्य को जानना तो चाहता हूँ, आप मुझे उस जीवद्रव्य का ज्ञान करा दीजिए; लेकिन मेरी एक शर्त है कि मैं जीव को उसकी नर-नारकादि या सिद्ध पर्यायों से नहीं जानना चाहता।

में तो मात्र जीव को ही सीधे जानना चाहता हूँ। क्या आप मुझे ऐसे जीव का ज्ञान करा पाएँगे?

तो आपका उत्तर होगा - नहीं, क्योंकि जीवद्रव्य का ज्ञान उसकी उक्त पर्यायों के बिना कराना सम्भव नहीं है। इसका स्पष्ट अर्थ यह कि बिना पर्यायों के द्रव्य का परिचय करना/कराना सम्भव नहीं है।

‘यह जीवद्रव्य है’ - ऐसा निर्णय होने पर भी जानने में तो पर्याय ही आएगी और जाननेवाला भी अपने ज्ञानगुण की पर्याय से ही जानेगा।

जानना और जानने में आना, बिना पर्याय के सम्भव नहीं है, इससे सिद्ध होता है कि पर्याय ही गुण और द्रव्य का ज्ञापक है। इसप्रकार वस्तु का यथार्थस्वरूप हमारी समझ में आ जाता है।

यद्यपि धर्मादि चार द्रव्यों में तो एक-एक ही विशेष गुण होने से उनमें पर्याय की विविधता अधिक स्पष्ट रीति से ज्ञात नहीं होती है; तथापि अस्तित्व आदि छह सामान्य गुणों की पर्यायें तो उनमें भी होती हैं; अतः उनसे धर्मादि द्रव्यों की पर्यायों को भी जान सकते हैं।

इसप्रकार यहाँ जीव और पुद्गल की विशिष्ट पर्यायों के माध्यम से वस्तुस्वरूप का निरूपण किया है। यहाँ पर्यायों से गुण और गुण के द्वारा द्रव्य का निरूपण किया गया है।

४. जीवादि सात तत्त्वों में जीव और अजीव, - ये दो सामान्य तत्त्व हैं तथा आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष - ये पाँच विशेषतत्त्व हैं। सभी सात तत्त्व जानने की अपेक्षा उपादेय हैं; इनमें ध्यान करने योग्य ध्येय तत्त्व मात्र जीवतत्त्व ही होने से वह परम उपादेय है। अजीवतत्त्व मात्र ज्ञेय/जानने योग्य है। आस्रव-बन्ध - ये दोनों तत्त्व दुःखरूप, दुःख के कारण और संसार को बढ़ानेवाले हैं; अतः सदैव हेय/त्यागने योग्य हैं। जबकि संवर-निर्जरा - ये दोनों तत्त्व मोक्ष के कारणभूत होने से कथंचित् प्रगट करने की अपेक्षा उपादेय हैं। मात्र एक मोक्षतत्त्व ही प्राप्त करने योग्य उपादेय हैं।

इस प्रकार हेय-ज्ञेय-उपादेय तत्त्वों का ज्ञान, मात्र पर्याय के कारण ही होता है; अतः पर्याय का ज्ञान, मोक्षमार्ग तथा मोक्ष प्राप्त करने के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

२३०. शंका - पर्याय की कर्ता पर्याय ही है - ऐसा भी सुनने को मिलता है, इसका क्या तात्पर्य है? क्या यह विषय जिनागम में भी आया है?

समाधान - जब अधीर (उतावले) मनुष्य को किसी विशिष्ट पर्याय को प्रगट करने की बहुत आकुलता होती है तो उसकी बेचैनी मिटाने के लिए और वस्तुस्वरूप की सुनिश्चितता बताने के लिए भी ज्ञानियों ने कहा है कि - प्रत्येक पर्याय अपने ही समय पर व्यक्त होती है; आकुलता करने से कोई पर्याय अल्पकाल में अथवा तत्काल प्रगट होगी - ऐसा कभी नहीं होता। यही कारण है कि प्रत्येक पर्याय का अपना-अपना जन्मक्षण निश्चित होता है - ऐसा समझाया है।

यदि वस्तु-व्यवस्था की अपेक्षा से सोचा जाए तो प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय अपने-अपने काल में सुनिश्चित है, खचित है, उसे आगे-पीछे कौन और कैसे कर सकता है? पर्याय/अवस्था को आगे-पीछे करने का परिणाम ही मिथ्यात्व है।

इस विषय की विशद् जानकारी के लिए टीकासहित प्रवचनसार गाथा १६ एवं पंचास्तिकाय गाथा ६२ जरूर देखें। पर्याय के जन्मक्षण के सम्बन्ध में भी स्पष्ट कथन प्रवचनसार गाथा १०२ की टीका में आया है, इन्हें पढ़ने से वस्तु-व्यवस्था का ज्ञान निर्मल होगा।

२३१. शंका - हम सबको पर्याय में सुख प्रगट करना है या जीवतत्त्व में सुख उत्पन्न करना है?

उत्तर - जीवतत्त्व में सुख तो स्वभावगत अनादिकाल से ही है; अतः जीव में सुख उत्पन्न करने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। हमें गुड़ या शक्कर को मीठा थोड़े ही बनाना है; हमें तो भोजन को मीठा बनाना है। वास्तविकता का ज्ञान एवं श्रद्धान करना ही अति महत्त्वपूर्ण कार्य है।

यह संसारी जीव, पर्याय में दुःखमय है, इस पर्यायगत दुःख का अभाव कर पर्याय में ही सुख प्रगट करना है। वर्तमानकालीन जीवन, सुखमय बनाना है। कार्य, पर्याय में ही होता है - ऐसा ज्ञान, हमें पर्याय के ज्ञान से ही प्रगट होता है।

५. प्रत्येक द्रव्य का परिणामन, उस द्रव्य के पर्यायस्वभाव के कारण ही होता है; ऐसा जानने से निमित्ताधीन दृष्टि मिटती है और स्वभाव का सामर्थ्य प्रगट होता है।

२३२. प्रश्न - पर्याय को अथवा द्रव्य-गुण-पर्याय, तीनों को जानने से हमें क्या और भी कुछ विशेष लाभ प्राप्त होते हैं?

उत्तर - हाँ, अवश्य अनेक लाभ प्राप्त होते हैं। भगवान बनने का साक्षात् उपाय समझ में आता है। इसका विवेचन निम्न प्रकार है -

१. अरहन्त भगवान को हम हमारे ज्ञान में स्थापित कर विचार करते हैं - “हे भगवन्! आपका जीवद्रव्य और मेरा जीवद्रव्य समान ही है। दोनों के जीवद्रव्य में परस्पर कुछ भी भेद/अन्तर नहीं है, समानता ही है” - यह विषय द्रव्य-गुण-पर्याय को जानने से हमें समझ में आता है।

२. भगवान के जीवद्रव्य में जितने अनन्त गुण हैं, उतने ही अनन्त गुण मेरे जीवद्रव्य में भी हैं; यह तथ्य भी हमारी समझ में आ जाता है।

वर्तमान में भी मैं जीवद्रव्य, द्रव्य और गुणों की अपेक्षा अरहन्त परमात्मा के समान ही हूँ - ऐसा निर्णय होता है।

३. पर्याय की अपेक्षा विचार करते हैं तो अरहन्त की पर्याय अनन्त सुखरूप है, पर मैं वर्तमानकाल में उन जैसा पर्याय में सुखरूप नहीं हूँ, दुःखी हूँ - यह भी बात स्पष्ट हो जाती है।

४. अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि मुझे पर्याय में अरहन्त के समान होने के लिए द्रव्य, गुण और पर्याय - इन तीनों में से चिन्तन में किसको मुख्य रखना है? अर्थात् द्रव्य-गुण की समानता को मुख्य रखना है अथवा पर्याय की असमानता का विचार करना है?

इसका उत्तर तो यही है कि जानना तो द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों को है; तथापि चिन्तन में जिनमें समानता हो, उनको ही मुख्य करना चाहिए; क्योंकि द्रव्य एवं गुणों की समानता को मुख्य किए बिना भगवान बनने का उपाय और उत्साह प्रगट नहीं होता।

५. प्रकृति-प्रदत्त एवं अनादि से स्वयमेव ही प्राप्त द्रव्य-गुणों की समानता का चिन्तन एवं ध्यान ही पर्याय में भगवान बनने का उपाय है - यह परम सत्य विषय हमारी समझ में आता है। यही द्रव्य-गुण-पर्याय के स्वरूप जानने का अनुपम लाभ है।

अरहन्त भगवान का जीवद्रव्य एवं उनके ज्ञानादि अनन्त गुण तथा मेरा जीवद्रव्य एवं मेरे ज्ञानादि अनन्त गुण समान ही हैं, इसलिए मैं एवं प्रत्येक जीव बिना पुरुषार्थ किए ही द्रव्य-गुण की अपेक्षा अरहन्त भगवान के समान ही है। मात्र वर्तमानकालीन पर्याय में ही मुझे पुरुषार्थ करना है अर्थात् अपने भगवानपने को स्वीकार करना है। करने योग्य कार्य तो मात्र इतना ही है।

जब कोई भी संसारी जीव अपने निज भगवान आत्मा का यथार्थ ध्यान करता है, सर्वोत्कृष्ट ध्यान करता है तो वह क्रम से पर्याय में भगवान बन जाता है।

जो शक्तिरूप भगवानपना प्रत्येक जीव में अनादि से स्वयमेव है, उसे ही पर्याय में प्रगट करना है; बाहर से कुछ लाना अथवा मँगवाना नहीं है। इस विषय के विशद् ज्ञान के लिए प्रवचनसार गाथा ८० एवं उसकी दोनों टीकाओं को जरूर देखें।

२३३. प्रश्न - पर्याय के कितने भेद हैं?

उत्तर - पर्याय के दो भेद हैं - १. व्यंजनपर्याय और २. अर्थपर्याय।

२३४. प्रश्न - व्यंजनपर्याय किसे कहते हैं?

उत्तर - प्रत्येक द्रव्य के प्रदेशत्वगुण के कार्य को व्यंजनपर्याय कहते हैं।

अथवा स्थूलपर्यायों को व्यंजनपर्याय कहते हैं।

२३५. प्रश्न - अर्थपर्याय किसे कहते हैं?

उत्तर - प्रदेशत्वगुण के अतिरिक्त शेष सम्पूर्ण गुणों के कार्य या परिणामन को अर्थपर्याय कहते हैं। अथवा सूक्ष्मपर्यायों को अर्थपर्याय कहते हैं।

२३६. प्रश्न - पर्याय के और भी कुछ भेद हैं क्या?

उत्तर - हाँ, पर्याय के अन्य प्रकार से भी दो भेद हैं - १. द्रव्यपर्याय और २. गुणपर्याय।

२३७. प्रश्न - द्रव्यपर्याय किसे कहते हैं? (प्रवचनसार की अपेक्षा)

उत्तर - अनेक द्रव्यों की एक जैसी भासित होनेवाली अवस्था को द्रव्यपर्याय कहते हैं। जैसे, धोती, पुस्तक आदि समानजातीयद्रव्यपर्याय हैं; इनमें अनन्त पुद्गल-परमाणु एक जैसे, एक पर्यायरूप भासित होते हैं तथा जीव की नर-नारकादि पर्याय, असमानजातीयद्रव्यपर्याय हैं; इनमें अनन्त पुद्गल-परमाणुओं का स्कन्ध परिणत (औदारिक शरीररूप परिणत आहारवर्गणा, तैजस शरीररूप परिणत तैजसवर्गणा और आठ कर्मरूप परिणत कार्मणवर्गणा) तथा एक जीव, इन सबकी मिलकर एक जैसी लगने वाली एक पर्याय भासित होती है।

२३८. प्रश्न - गुणपर्याय किसे कहते हैं?

उत्तर - अर्थपर्याय को ही गुणपर्याय कहते हैं। अथवा गुणों की पर्यायों को गुणपर्याय कहते हैं?

२३९. प्रश्न - व्यंजनपर्याय के कितने भेद हैं?

उत्तर - व्यंजनपर्याय के दो भेद हैं - १. स्वभावव्यंजनपर्याय और २. विभावव्यंजनपर्याय।

२४०. प्रश्न - स्वभावव्यंजनपर्याय किसे कहते हैं?

उत्तर - पर-निमित्त के सम्बन्धरहित द्रव्य के आकार को स्वभाव-व्यंजनपर्याय कहते हैं। जैसे, जीव की 'सिद्ध' पर्याय और पुद्गल की 'परमाणुरूप' पर्याय।

२४१. प्रश्न - विभावव्यंजनपर्याय किसे कहते हैं?

उत्तर - पर-निमित्त के सम्बन्धसहित द्रव्य के आकार को विभाव-व्यंजनपर्याय कहते हैं। जैसे, जीव की नर-नरकादि पर्याय और पुद्गल की स्कन्धरूप पर्याय।

२४२. प्रश्न - अर्थपर्याय के कितने भेद हैं?

उत्तर - अर्थपर्याय के दो भेद हैं -

१. स्वभाव-अर्थपर्याय और २. विभाव-अर्थपर्याय।

२४३. प्रश्न - स्वभाव-अर्थपर्याय किसे कहते हैं?

उत्तर - पर-निमित्त के सम्बन्धरहित अर्थपर्याय को स्वभाव-अर्थपर्याय कहते हैं। जैसे, जीव की केवलज्ञानपर्याय।

२४४. प्रश्न - विभाव-अर्थपर्याय किसे कहते हैं?

उत्तर - पर-निमित्त के सम्बन्धसहित अर्थपर्याय को विभाव-अर्थपर्याय कहते हैं? जैसे, जीव की राग-द्वेष आदि पर्याय।

२४५. प्रश्न - किस-किस द्रव्य में कौन-कौन सी पर्यायें होती हैं?

उत्तर - जीव और पुद्गल में स्वभाव-अर्थपर्याय, विभाव-अर्थपर्याय, स्वभाव-व्यंजनपर्याय और विभाव-व्यंजनपर्याय - ये चारों प्रकार की पर्यायें होती हैं। शेष धर्म, अधर्म, आकाश और काल - इन चारों द्रव्यों में स्वभाव-अर्थपर्याय और स्वभाव-व्यंजनपर्याय ही होती हैं।

२४६. प्रश्न - श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र्य गुण में कौन-कौनसी पर्यायें होती हैं?

उत्तर - १. श्रद्धागुण में मिथ्यात्व और सम्यक्त्व - ये दो पर्यायें होती हैं। २. ज्ञानगुण में - कुमति, कुश्रुत और विभंगावधि - ये तीन मिथ्याज्ञान की एवं मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान - ये पाँच सम्यग्ज्ञान की; इसप्रकार कुल आठ पर्यायें होती हैं। ३. चारित्र्यगुण में - मिथ्याचारित्र्य और सम्यक्चारित्र्य - ये दो पर्यायें होती हैं।

२४७. प्रश्न - पर्याय का उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य के साथ क्या सम्बन्ध है?

उत्तर - उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य - ये तीनों स्वयं पर्यायों के ही होते हैं अथवा ये तीनों पर्यायाश्रित धर्म हैं।

२४८. प्रश्न - उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य - ये तीनों पर्याय हैं, ऐसा कथन क्या किसी शास्त्र में भी आया है?

उत्तर - हाँ, उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य - ये तीनों पर्यायों के होते हैं, ऐसा स्पष्ट कथन पंचाध्यायी शास्त्र में तो आया ही है। प्रवचनसार गाथा ९५ की टीका में भी यह विषय स्पष्ट हुआ है। पंचाध्यायी (अध्याय १, श्लोक २००) में आता है -

“उत्पादस्थितिभङ्गाः पर्यायाणां भवन्ति किल न सतः।

ते पर्याया द्रव्यं, तस्माद् द्रव्यं हि तत्त्रितयम्॥

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य- ये तीन पर्यायों के ही होते हैं, सत् के नहीं। और उन पर्यायों के समूह को द्रव्य कहते हैं, इसलिए द्रव्य इन तीन स्वरूप होता है।

२४९. प्रश्न - उत्पाद किसे कहते हैं?

उत्तर - द्रव्य में नवीन पर्याय की उत्पत्ति को उत्पाद कहते हैं। द्रव्य में नवीन पर्याय की उत्पत्ति इस 'उत्पाद' नामक शक्ति से होती है। इस उत्पाद नामक शक्ति का कथन समयसार परिशिष्ट की ४७ शक्तियों में १८वीं शक्ति उत्पादव्ययध्रुवत्वशक्ति के अन्तर्गत आता है।

२५०. प्रश्न - क्या द्रव्य में नवीनपर्याय निमित्तों से नहीं होती?

उत्तर - निमित्तरूप द्रव्य की पर्याय, अन्यद्रव्य की पर्याय का उत्पादक कारण नहीं हो सकती; तथापि ज्ञापक (ज्ञान करानेवाला) कारण जरूर है। देखो, अन्यद्रव्य की पर्याय के निमित्त होने का निषेध नहीं है। जब भी किसी द्रव्य की कोई भी नई पर्याय/अवस्था होगी, तब कालद्रव्य की समयरूप पर्याय तो नियम से निमित्तरूप से होती ही है। जिसप्रकार समय, नई पर्याय का उत्पादक/कर्ता नहीं हो सकता, उसीप्रकार किसी भी एक पर्याय की कर्ता, अन्यद्रव्य की पर्याय हो ही नहीं सकती; हाँ निमित्तरूप होने का निषेध नहीं है।

२५१. प्रश्न - आम के रसगुण की खट्टी पर्याय मीठी हो जाती है। यहाँ इस मीठेपनरूप पर्याय की कर्ता कौन है? आमरूप पुद्गलद्रव्य में स्थित उत्पादशक्ति ने मीठापन उत्पन्न किया अथवा कृषक ने हरे-खट्टे आम को घास में रखा था, उसके कारण मीठेरूप पर्याय उत्पन्न हुई?

उत्तर - द्रव्य में नई पर्याय की उत्पत्ति को उत्पाद कहते हैं - इस परिभाषा के अनुसार तो मीठेपन का उत्पादक/कर्ता तो द्रव्य की उत्पादरूप शक्ति ही है, अन्य नहीं; ऐसा सहज निर्णय हो जाता है।

२५२. प्रश्न - आम के मीठेपन में उसकी उत्पादरूप शक्ति ने कितने प्रतिशत काम किया और किसान, घास, कमरा आदि ने कितने प्रतिशत काम किया?

उत्तर - यद्यपि आम के मीठेपन में उसकी उत्पादशक्ति ने ही शत-प्रतिशत काम किया है; किसान, घास, कमरा आदि ने एक प्रतिशत भी काम नहीं किया है; तथापि किसान, घास, कमरा आदि वस्तुएँ मीठेपन में निमित्तरूप से हैं ही; क्योंकि किसी भी कार्य के होने में दो कारण अवश्य होते हैं - १. उपादानकारण और २. निमित्तकारण।

२५३. प्रश्न - उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप शक्ति कितने द्रव्यों में है?

उत्तर - उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप शक्ति जीवादि छह द्रव्यों में अनादि-काल से है और अनन्तकाल तक रहेगी; क्योंकि यह तो द्रव्य के लक्षण स्वरूप है।

प्रत्येक पर्याय की स्वतन्त्रता समझने के लिए आत्मख्याति में समागत भाव-अभावादि शक्तियों का ज्ञान करना भी उपयोगी है -

“प्रत्येक द्रव्य में एक शक्ति ऐसी है, जिसके कारण द्रव्य, अपनी वर्तमान अवस्था से युक्त होता है अर्थात् प्रत्येक समय उसकी निश्चित अवस्था होती है; उसे भावशक्ति कहते हैं।<sup>१</sup> तथा एक शक्ति ऐसी भी होती है, जिसके कारण उसमें वर्तमान अवस्था के अतिरिक्त अन्य कोई अवस्था नहीं होती; इस शक्ति का नाम अभावशक्ति है।<sup>२</sup>

१. भूतावस्थरूपा भावशक्ति: - समयसार, आत्मख्याति टीका, परिशिष्ट

२. शून्यावस्थरूपा अभावशक्ति: - वही

प्रत्येक द्रव्य में एक शक्ति ऐसी है, जिसके कारण वर्तमान पर्याय का नियम से आगामी समय में अभाव हो जाता है; वह शक्ति है भावा-अभावशक्ति।<sup>१</sup> तथा एक शक्ति ऐसी भी होती है कि जिसके कारण आगामी समय में होनेवाली पर्याय उस समय नियम से उत्पन्न होती ही है; इस शक्ति का नाम है अभाव-भावशक्ति।<sup>२</sup>

प्रत्येक द्रव्य में एक शक्ति ऐसी है कि जो पर्याय जिस समय होनी होती है, वह पर्याय उस समय नियम से होती ही है। वह शक्ति है भावा-भावशक्ति:।<sup>३</sup> तथा एक शक्ति ऐसी भी होती है कि जिसके कारण जो पर्याय जिस समय नहीं होनी है, वह नियम से नहीं ही होती है; उस शक्ति का नाम है अभाव-अभावशक्ति।<sup>४</sup>

२५४. प्रश्न – व्यय किसे कहते हैं?

उत्तर – द्रव्य की पूर्वपर्याय के नाश को व्यय कहते हैं। जैसे – सुवर्णरूप पुद्गलद्रव्य की हाररूप पर्याय है; उस हार पर्याय को मिटाकर, स्वर्णकार ने अँगूठी आदि बना दी तो हार पर्याय का व्यय हो गया।

२५५. प्रश्न – क्या दूध का दही बनने से दूधरूप पर्याय का व्यय होता है अथवा दहीरूप पर्याय के उत्पाद से दूध की पर्याय का व्यय होता है? स्पष्ट कीजिए।

उत्तर – दूध की व्ययरूप पर्यायशक्ति से दूध का व्यय हुआ है, न कि दहीरूप पर्याय के उत्पाद से। दूध की दहीरूप नवीन पर्याय तो उत्पाद-शक्ति से होती है, जबकि पूर्व पर्याय का नाश, व्ययशक्ति से होता है। यह उत्पाद और व्यय की अपनी-अपनी स्वतन्त्रता है।

२५६. प्रश्न – नवीन पर्याय का उत्पाद और पूर्व पर्याय का व्यय, इन दोनों में पहले कौन और पश्चात् कौन? स्पष्ट कीजिए।

१. भवत्पर्यायव्ययरूपा भावाभावशक्ति: – समयसार, आत्मख्याति टीका, परिशिष्ट

२. भवत्पर्यायभवनरूपा अभावभावशक्ति: – वही

३. भवत्पर्यायभवनरूपा भावाभावशक्ति: – वही

४. अभवत्पर्यायाभवनरूपा अभावभावशक्ति: – वही

उत्तर – पहले और पश्चात् का प्रश्न ही नहीं है, दोनों एक साथ एक ही समय में होते हैं। जिस समय नवीन पर्याय का उत्पाद होता है, उसी समय पूर्व पर्याय का व्यय होता है। जिस समय हार की पर्याय का उत्पाद हुआ, उसी समय मुकुटरूप पर्याय का व्यय हुआ। उत्पाद-व्यय, दोनों एक समय में ही होते हैं, पर होते हैं अपने-अपने स्वतन्त्र कारण से।

सर्वज्ञ जिनेन्द्र भगवन्तों द्वारा प्रतिपादित वस्तु-व्यवस्था के अनुसार विश्व, द्रव्य और उसके गुण – ये तीनों तो अनादि-अनन्त हैं, स्वतःसिद्ध हैं और स्वतन्त्र है। विश्व, द्रव्य और उसके गुण स्वयम्भू होने से इनकी सत्ता के लिए कोई निमित्त भी नहीं होता है; क्योंकि अनादि वस्तु के लिए निमित्त नहीं होता। यदि इनके लिए भी निमित्त मान लिया जाए तो इनका अनादिपना नहीं रहता; लेकिन पर्याय सादि-सान्त होने पर भी स्वतःसिद्ध और स्वतन्त्र होती है – यह परम आश्चर्य है। हाँ, पर्याय में निमित्त का स्वीकार अवश्य रहता है।

२५७. प्रश्न – उत्पाद-व्यय, दोनों एक ही समय में होते हैं तो ध्रौव्य कब और कैसे घटित होता है?

उत्तर – अरे भाई! उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य – ये तीनों एक ही समय में होते हैं। हम द्रव्य को जिस दृष्टिकोण से देखते हैं, वह हमें उसी रूप में दिखाई देता है। इसलिए उत्पाद आदि तीनों को सत् अथवा सत्ता भी कहते हैं।

इस विषय की विस्तृत जानकारी के लिए तत्त्वार्थसूत्र का अध्याय ५ एवं प्रवचनसार का ज्ञेयाधिकार जरूर देखें।

जैसे – भगवान महावीर का जीव, सोलहवें स्वर्ग से च्युत होकर माँ त्रिशला के गर्भ में आया; वहाँ देवपर्याय का व्यय और मनुष्यपर्याय का उत्पाद, एक साथ अर्थात् एक ही समय में हुए। देव और मनुष्य पर्यायों में जीवपना अखण्डरूप से ध्रौव्य ही रहा। इस प्रकार हम एक जीव में एक ही समय में उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य को अच्छी तरह समझ सकते हैं।

२५८. प्रश्न - ध्रौव्य किसे कहते हैं?

उत्तर - प्रत्यभिज्ञान की कारणभूत द्रव्य की किसी अवस्था की नित्यता को ध्रौव्य कहते हैं अर्थात् उत्पाद-व्ययरूप दोनों पर्यायों में द्रव्य के निरन्तर विद्यमान रहनेवाले नित्य अंश को ध्रौव्य कहते हैं।

ध्रौव्य तो अनादि-अनन्त, अविनाशी तथा निरंश होता है; सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ में भी आचार्य पूज्यपाद ने कहा है - “जो अनादि पारिणामिक स्वभाव के कारण व्यय तथा उत्पाद के अभाव से ध्रुव रहता है, स्थिर रहता है; वही ध्रौव्य है।”

२५९. प्रश्न- आप ध्रौव्य की परिभाषा में अवस्था की नित्यता एवं नित्य-अंश को ध्रौव्य कह रहे हो, इस ध्रौव्य का वास्तविक स्वरूप क्या है?

उत्तर - देखो! आत्मा को भी ध्रुव कहा जाता है, वह द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से सत्य है, परन्तु यहाँ पर्यायरूप ध्रौव्य की बात चल रही है। हमने पंचाध्यायी का उद्धरण देकर उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य ये तीनों पर्यायों के होते हैं - यह विषय प्रारम्भ में ही बता दिया है।

यहाँ उत्पाद और व्यय एक समयवर्ती हैं और उन एक समयवर्ती उत्पाद-व्यय में अर्थात् दोनों में अवस्थायी नित्यता के अंश को ध्रौव्य कहा है। विवक्षा भेद से सब विषय स्पष्ट समझ में आ जाता है।

इसका तात्पर्य यह है कि ध्रौव्य अनादि-अनन्त तो है ही; तथापि पर्याय की अपेक्षा से देखा जाए तो उत्पाद-व्यय में रहनेवाले नित्य अंश को भी ध्रौव्य कहते हैं।

२६०. प्रश्न - प्रत्यभिज्ञान किसे कहते हैं?

उत्तर - जोड़रूप ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। प्रत्यक्ष और स्मृति ज्ञान के विषयभूत पदार्थों में होनेवाले जोड़रूप ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। जैसे - यह वही मनुष्य है, जिसे मैंने कल देखा था।

यह जो उदाहरण दिया गया है, वह अत्यन्त स्थूल है। वास्तव में देखा जाए तो प्रतिसमय द्रव्य में नवीन पर्याय का उत्पाद होता है और पूर्व

पर्याय का नाश/व्यय होता है तथा उत्पाद-व्यय की अवस्था में निरन्तर विद्यमान नित्य अंश नियम से रहता ही है; इस नित्य अंश को ही ध्रौव्य कहते हैं।

जिस समय क्षमाधर्मरूप नवीन पर्याय का उत्पाद होता है, उसी समय क्रोधरूप की अवस्था का व्यय होता है तथा दोनों अवस्थाओं में निरन्तर विद्यमान जीवद्रव्य अथवा चारित्रगुण ध्रौव्यरूप से रहता है। इसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य की पर्यायों में घटित करना चाहिए।

२६१. प्रश्न - धर्मादिद्रव्य में उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य कैसे घटते हैं?

उत्तर - जैसे, चलती हुई गाय को गति में निमित्तरूप धर्मद्रव्य की नवीन पर्याय का उत्पाद, उसके पूर्व समय में चलने वाली उसी गाय को निमित्तरूप धर्मद्रव्य की पूर्व पर्याय का व्यय होता है। दोनों अवस्थाओं वाली गाय की गति में निमित्तरूप होते समय धर्मद्रव्य निरन्तर बना रहता है। यही तो धर्मद्रव्य का ध्रौव्यरूप से सतत बना रहना है।

२६२. प्रश्न - उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य को जानने से हमें क्या लाभ होते हैं?

उत्तर - किसी भी द्रव्य में होनेवाली नवीन पर्याय के कर्ता हम नहीं हैं, उस द्रव्य की ‘द्रव्यगत उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यशक्ति’ से ही नवीन पर्याय उत्पन्न होती हैं; इसका ज्ञान होते ही -

१. प्रत्येक पर्याय की स्वतन्त्रता का बोध होता है।
२. परद्रव्य की पर्याय के कर्तापने का मिथ्या अभिप्राय नष्ट हो जाता है।
३. जीव को शान्ति और समाधान की प्राप्ति होती है।
४. मोक्षमार्ग व्यक्त करनेरूप पुरुषार्थ के प्रति जीव स्वतः सन्मुख होता है। पर के प्रति उदासीन हुए बिना निजात्मा के प्रति पुरुषार्थ जागृत नहीं होता; अतः स्वतन्त्र वस्तु-व्यवस्था का ज्ञान करना आवश्यक है।

इसीप्रकार अधर्म, आकाश एवं काल द्रव्य में भी घटित करना चाहिए।

इसप्रकार ‘पर्याय-विवेचन’ का ४१ प्रश्नोत्तर के साथ विवेचन पूर्ण होता है।

## द्रव्य-गुण-पर्याय में अन्तर

१. **द्रव्य** – गुणों के समूह को द्रव्य कहते हैं।  
**गुण** – जो द्रव्य के सम्पूर्ण भागों में और उसकी सम्पूर्ण अवस्था में रहते हैं, उन्हें गुण कहते हैं।  
**पर्याय** – गुणों के विकार अर्थात् विशेष कार्य को पर्याय कहते हैं।
२. **द्रव्य** के सत्, वस्तु, अर्थ आदि पर्यायवाची नाम हैं।  
**गुण** – ध्रौव्य, यह गुण का भी पर्यायवाची नाम है।  
**पर्याय** – उत्पाद और व्यय – ये पर्याय के पर्यायवाची नाम हैं।
३. **द्रव्य** का लक्षण 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' है।  
**गुण** का लक्षण 'ध्रौव्य' है।  
**पर्याय** का लक्षण 'उत्पाद-व्यय' है।
४. **द्रव्य** की मुख्य पहचान 'गुण-पर्ययद् द्रव्यम्' है।  
**गुण** की मुख्य पहचान उसका सदाकाल बने रहना है।  
**पर्याय** की मुख्य पहचान उत्पाद-व्यय करते रहना है।
५. **द्रव्य**, गुण-पर्यायों से पहचाने जाते हैं।  
**गुण** और द्रव्य, पर्याय से पहचाने जाते हैं।  
**पर्याय**, गुण और द्रव्य की पहचान कराने वाला है।
६. **द्रव्य**, गुण पर्यायों के साथ सदा रहते हैं।  
**गुण**, द्रव्य के साथ सदा रहते हैं।  
**पर्याय**, द्रव्य के साथ सदा रहते हुए भी विवक्षित एक पर्याय तो द्रव्य के साथ मात्र एक समय ही रहती है।
७. **द्रव्य** के माध्यम से अखण्ड द्रव्य का आश्रय लिया जाता है।  
**गुणों के माध्यम** से जीव को प्रत्येक द्रव्य की महिमा आती है।  
**पर्याय** के माध्यम से जीव को भेदज्ञान एवं वैराग्य हो सकता है।
८. **द्रव्य** स्वतंत्र रूप से कर्ता है।  
**गुण** कारण हैं।  
**पर्याय** कार्य है।
९. **द्रव्य**, वस्तु के विस्तार सामान्य और ऊर्ध्वता सामान्य को **द्रव्य** कहते हैं।  
**गुण** – वस्तु के विस्तार-विशेष को **गुण** कहते हैं।  
**पर्याय**, वस्तु के ऊर्ध्वता-विशेष को **पर्याय** कहते हैं।
१०. **द्रव्य** – जो निरन्तर आत्मलाभ करता रहता है, वह **द्रव्य** हैं।  
**गुण** – जो द्रव्य को द्रव्यान्तर से पृथक् करता है, उसे **गुण** कहते हैं।  
**पर्याय** – क्षणस्थायी-सूक्ष्म परिणमन को **पर्याय** कहते हैं।
११. **द्रव्य** – गुण-पर्यायों में अभेद स्थापित करने वाले धर्मी को **द्रव्य** कहते हैं।  
**गुण** – द्रव्य में भेद करने वाले धर्म को **गुण** कहते हैं।  
**पर्याय** – गुण के विशेष परिणमन को **पर्याय** कहते हैं।
१२. **द्रव्य** – जो सामान्य एवं अन्वयरूप से सदाकाल से अवस्थित रहता है, वह **द्रव्य** है।  
**गुण**, द्रव्य के सहभावी विशेष हैं।  
**पर्याय**, द्रव्य के व्यतिरेकी अंश हैं।
१३. **द्रव्य**, द्रव्यार्थिकनय से नित्य है, पर्यायार्थिकनय से अनित्य है और प्रमाणदृष्टि से नित्यानित्यात्मक है।  
**गुण**, नित्य हैं।  
**पर्याय**, अनित्य होती है।(मेरु-पर्वतादि यहाँ गौण हैं।)
१४. **द्रव्य** को अन्वय या सामान्य भी कहते हैं।  
**गुण**, द्रव्य के अन्वयी विशेष हैं।  
**पर्याय**, द्रव्य के व्यतिरेकी विशेष हैं।
१५. **द्रव्य**, गुण-पर्यायों की एकरूप एवं भेदरूप धाराओं में उदासीनरूप से विद्यमान रहता है।  
**गुण** – जिनसे धारा में एकरूपता बनी रहती है, वे **गुण** कहलाते हैं।  
**पर्याय**–जिनसे धारा (गुण) में भेद प्रतीत होता है, वे **पर्याय** कहलाती हैं।
१६. **द्रव्य**, स्थायित्व और द्रवणशीलता में समानरूप से स्थित रहता है।  
**गुण** – द्रव्य का स्थायित्व, **गुण** होता है।  
**पर्याय** – द्रव्य (वस्तु) में द्रवणशीलता, **पर्याय** से होती है।
१७. **द्रव्य** – जो अपने आप में परिपूर्ण एवं स्वतंत्र रहता है, वह **द्रव्य** है।  
**गुण** – जिससे एक द्रव्य, दूसरे द्रव्य से भिन्न होता है, वह **गुण** है।  
**पर्याय** – गुणों की अवस्थाओं का नाम **पर्याय** है।



## शास्त्राभ्यास से लाभ

१. ज्ञान से ही सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है।
२. ज्ञान से ही कषायों का अभाव हो जाता है।
३. ज्ञानाभ्यास से माया, मिथ्यात्व, निदान हूँ इन तीन शक्तियों का नाश होता है।
४. ज्ञान के अभ्यास से ही मन स्थिर होता है।
५. ज्ञान से ही अनेक प्रकार के दुःखदायक विकल्प नष्ट हो जाते हैं।
६. ज्ञानाभ्यास से ही धर्मध्यान व शुक्लध्यान में अचल होकर बैठा जाता है।
७. ज्ञानाभ्यास से ही जीव व्रत-संयम से चलायमान नहीं होते।
८. ज्ञान से ही जिनेन्द्र का शासन प्रवर्तता है। अशुभ कर्मों का नाश होता है।
९. ज्ञान से ही जिनधर्म की प्रभावना होती है।
१०. ज्ञान के अभ्यास से ही लोगों के हृदय में पूर्व का संचित कर रखा हुआ पापरूप कर्म का ऋण नष्ट हो जाता है।
११. अज्ञानी जिस कर्म को घोर तप करके कोटि पूर्व वर्षों में खिपाता है, उस कर्म को ज्ञानी अंतर्मुहूर्त में ही खिपा देता है।
१२. ज्ञान के प्रभाव से ही जीव समस्त विषयों की वाञ्छा से रहित होकर संतोष धारण करते हैं।
१३. ज्ञानाभ्यास/शास्त्राभ्यास से ही उत्तम क्षमादि गुण प्रगट होते हैं।
१४. ज्ञान से ही भक्ष्य-अभक्ष्य का, योग्य-अयोग्य का, त्यागने-ग्रहण करने योग्य का विचार होता है।
१५. ज्ञान से ही परमार्थ और व्यवहार दोनों व्यक्त होते हैं।
१६. ज्ञान के समान कोई धन नहीं है और ज्ञानदान समान कोई अन्य दान नहीं है।
१७. ज्ञान ही दुःखित जीव को सदा शरण अर्थात् आधार है।
१८. ज्ञान ही स्वदेश में एवं परदेश में सदा आदर कराने वाला परम धन है।
१९. ज्ञान धन को कोई चोर चुरा नहीं सकता, लूटने वाला लूट नहीं सकता, खोंसनेवाला खोंस नहीं सकता।
२०. ज्ञान किसी को देने से घटता नहीं है, जो ज्ञान-दान देता है; उसका ज्ञान निरन्तर बढ़ता ही जाता है।
२१. ज्ञान से ही मोक्ष प्रगट होता है।

(रत्नकरण्ड श्रावकाचार : अभीक्षण ज्ञानोपयोग भावना)